दिन और रात्रि

सूर्य अस्त होगया। अँधेरे के अवगुण्ठन के अन्तराल मे सन्ध्या के सीमान्त की अन्तिम स्वर्ण-रेखा तक अन्तर्हित हो गई। रात्रिकाल आने को है।

यह जो दिन और रात्रि प्रतिदिन हमारे जीवन पर एक बार प्रकाश एव एक बार अन्धकार की ताल से आघात करते जा रहे है ये हमारी हृदय-वीणा पर कौनसी रागिनी ध्वनित करते रहते है? इस तरह प्रतिदिन हमारे भीतर जिस एक अरूप छद की रचना होती रहती है, उसके भीतर क्या कोई वृहद् अर्थ नहीं है? हम लोग जो अनन्त आकाश के नीचे नाडी स्पन्दन की भाँति दिन रात नियमित उत्थान-पतन के अभिघात के भीतर बढते रहते है, हमारे जीवन के भीतर इस आलोक अन्धकार की नित्य गतिविधि का कोई तात्पर्य क्या ग्रथित नही होता रहता है? तटभूमि के ऊपर प्रत्येक वर्षा म जो एक जलप्लावन बहता जारहा है एव उसके बाद शरद्-काल मे वह फिर जल से निकलकर शस्य वपन (खेती बोना) के लिए प्रस्तुत होता रहता है—इस वर्षा और शरद् का गमन-आगमन तट भूमि के स्तर-स्तर मे क्या अपना इतिहास नहीं रख जाता है?

दिन के बाद यह जो रात्रि का अवतरण है, रात्रि के बाद यह जो दिन का अभ्युदय है, इनकी परम विस्मयकरता से हम लोग चिर-अभ्यासवश कभी वचित न हो। सूर्य एक समय म अचानक आकाश के

नीचे अपने प्रकाश की पुस्तक को बन्द करते चला जाता है, रात्रि चुप-चाप एक दूसरे नये ग्रन्थ का नवीन अध्याय विश्व-लोक के सहस्र अनिमेष नेत्रों के सम्मुख उद्घाटित कर देता है, यह हम लोगों के लिए सामान्य व्यापार नहीं है।

यह अल्पकाल का परिवर्तन कैसा आश्चर्यमय है। किस अनायास से क्षण भर के भीतर ही विश्व-संसार भाव से भावान्तर में पदार्पण करता है। अथच, बीच में कोई विप्लव नहीं, विच्छेद या कोई तीव्र आघात भी नहीं, एक के अवसान और दूसरे के आरम्भ के बीच कैसी स्निग्ध शान्ति, कैसा सौम्य सौन्दर्य है।

दिन में उजाले में सब पदार्थों का जो पारस्परिक भेद है जो पार्थक्य है, वही बड़ा होकर, स्पष्ट होकर हमारे सामने प्रत्यक्ष हो उठता है। उजाला हमारे परस्पर के बीच एक व्यवधान का काम करता है—हम में से प्रत्येक की सीमा को परिस्फुट रूप में निश्चित कर देता है। दिन के समय हम लोग जो अपने-अपने काम के द्वारा स्वतन्त्र रहते हैं, उसी काम की चेष्टा के सङ्घात से परस्पर के भीतर विरोध भी बंध जाता है। दिन में हम लोग सभी अपनी-अपनी शक्ति का प्रयोग करके संसार में स्वयं को विजयी बनाने की चेष्टा में लगे रहते हैं। उस समय हमारी अपनी- अपनी कर्मशाला (काम करने की जगह) ही हमारे लिये विश्व-ब्रह्माण्ड के अन्य सभी वृहद मामलो की अपेक्षा वृहत्तम होती है—एव अपने-अपने कर्मोद्योग का आकर्षण ही संसार के अन्य सभी महत् आकर्षणों की अपेक्षा हमारे निकट महत्तम हो उठता है

इस समय नीलाम्बरा रात्रि के नि:शब्द पगों से आकर निखिल के ऊपर स्निग्ध कर-स्पर्श करने मात्र से ही हमारे परस्पर के बाह्य प्रभेद अस्पष्ट हो जाते हैं—उस समय हमारे परस्पर के मध्य जो गंभीरतम ऐक्य है, उसी को हृदय के भीतर अनुभव करने का अवकाश मिलता है। इसीलिए रात्रि प्रेम का समय है, मिलन का समय है।

इसी को ठीक तरह से समझ लेने पर पता चलेगा—दिन हम लोगो को जो कुछ देता है, रात्रि केवल उसे अपहरण ही करती है, ऐसा नहीं है, अन्धकार केवलमात्र अभाव और शून्यता को लाता है, ऐसा भी नही है—उसके पास भी देने की वस्तु है और जो कुछ देता है, वह महामूल्यवान् है। वह केवल सुप्ति (नींद) के द्वारा हमारी क्षति-पूर्ति करता है, हमारी क्लान्ति (थकावट) को दूर कर देता है, इतना ही नही है। वह हमारे प्रेम का निभृत निर्भर स्थल है, वह हमारे मिलन का महादेश है।

शक्ति मे हमारी गति है, प्रेम मे हमारी स्थिति है। शक्ति कर्म के भीतर स्वय को दौड़ाती है, प्रेम विश्राम के भीतर स्वय को पुंजीभूत करता है। शक्ति स्वय को विक्षिप्त किये रहती है, वह चचल है, प्रेम स्वय को महत बनाकर लाता है, वह स्थिर है। हमारा हृदय जिन्हे प्यार करता है, ससार मे केवल उन्ही के भीतर यह विराम प्राप्त करता है, हमारा हृदय जब विश्राम का अवकाश पाता है, उसी समय वह सम्पूर्ण रूप से प्यार कर पाता है। ससार म हमारा जो यथार्थ विराम है वही प्रेम है, जो प्रेम-हीन विराम है, वह जड़त्व मात्र है।

इसीलिए कर्मशाला स्वाभाविक मिलन का स्थान नही है, स्वार्थ से हम लोग एकत्र तो हो जाते हैं, परन्तु एक नही हो पाते। स्वामी सेवक का मिलन सम्पूर्ण मिलन नही है, मित्रो का मिलन ही सम्पर्ण मिलन है। मित्रता का मिलन विश्राम के बीच विकसित होता है—उसमे कर्म की ताड़ना नही होती, उसमे प्रयोजन की बाध्यता नहीं होती। वह अहैतुक है।

इसीलिए दिन की समाप्ति पर हमारा प्रयोजन जब समाप्त होता है, हमारे कर्म का वेग जब शान्त होता है, उसी समय सभी आवश्यकताओ के परे जो प्रेम है, वह अपना यथार्थ अवकाश पा लेता है। *हमारे कर्मों का सहायक जो इन्द्रिय-बोध है, वह जब अँधेरे मे*

आवृत्त हो जाता है, तब व्याघात हीन हमारे हृदय की शक्ति बढ़ उठती है, उस समय हमारा स्नेह-प्रेम सहज हो जाता है, हमारा मिलन सम्पूर्ण हो जाता है।

इसीलिये कह रहा था, रात्रि केवल हरण ही करती हो, ऐसा नहीं है। वह दान भी करती है। हमारी एक वस्तु जाती है। हम दूसरी वस्तु को पाते हैं, एवं एक वस्तु जाती है—इसीलिए हम दूसरी को प्राप्त कर पाते हैं। दिन मे संसार क्षेत्र मे हमे शक्ति प्रयोग का सुख रहता है, रात्रि मे वह अभिभूत हो जाता है, सीलिए हम निखिल के भीतर आत्मसमर्पण का आनन्द पाते हैं। दिन मे स्वार्थ साधना की चेष्टा मे हमारा कर्तव्य का अभिमान तृप्त होता है। रात्रि उसे खर्व कर देती है, इसीलिए हम उस समय प्रेम एव शान्ति का अधिकार प्राप्त करते हैं। दिन के उजाले से परिच्छिन्न इस पृथ्वी को हम उज्ज्वल रूप मे पाते हैं, रात्रि मे वह म्लान हो जाता है इसीलिए अगणित ज्योतिष्क लोक उद्घटित हो जाते है।

हम लोग एक ही समय मे सीमा को एव असीम को, अहं को एव अखिल को, विचित्र को एव एक को सम्पूर्ण भाव से प्राप्त नहीं कर सकते, इसीलिए एक बार दिन आकर हमारी आँखें खोल देता है एव बार रात आकर हमारे हृदयो के द्वार को उद्घाटित कर देती है। एक बार उजाला आकर हम लोगो को केन्द्र के भीतर निविष्ट कर देता है, एक बार अंधेरा आकर हम लोगो को परिधि के साथ परिचित कराता रहता है।

इसीलिए रात्रि ही उत्सव का विशेष समय है। इस समय विश्व-भुवन अन्धकार के मातृ कक्ष मे आकर समवेत हो जाता है। जिस अन्धकार से जगत-चराचर मूर्छित हो गया है, जो अन्धकार से आलोक-निर्झरिणी निरन्तर उत्साहित होती रहती है, जहाँ विश्व में सभी ... चुपचाप शान्ति-सचय करते है, सम्पूर्ण क्लान्ति सुप्ति सुधा के

भीतर निमग्न होकर नवजीवन के लिए प्रस्तुत होती रहती है, जिस निस्तब्ध-महा अन्धकार के गर्भ म से एक-एक उज्ज्वल दिवस नील-समुद्र म से एक एक फेनिल तरङ्ग की भाँति एकदम आकाश से उठकर फिर उसी समुद्र के भीतर शयन करता है वही अन्धकार हमारे निकट जो कुछ भी छिपाता है, उसकी अपेक्षा बहुत अधिक प्रकट कर देता है। उसके न रहने से लोक लोकान्तर की बातो को हम लोग नहीं पा सकते थे, उजाला हम लोगो को कारारुद्ध किए रखता।

यही रजनी का अन्धकार प्रतिदिन एक बार दिवालोक के स्वर्ण-सिंहद्वार को खोलकर, हम लोगो को विश्व-ब्रह्माण्ड के अन्त पुर मे लाकर उपस्थित कर देता है विश्व जननी क एक अखण्ड नीलांचल को हम सभी के ऊपर खीच देता है। सन्तान जब माता के आलिङ्गन पाश के भीतर पूर्णरूप से प्रच्छन्न होकर कुछ भी नही देखती, तभी निविड़-तर भाव से माता को अनुभव करती है, वही अनुभूति देखने सुनने की अपेक्षा बहुत अधिक एकान्तिक है स्तब्ध अन्धकार उसी तरह जब हमारे देखने सुनने को शान्त कर देता है। तभी हम एक शय्या के नीचे निखिल का और निखिल माता को अपने वक्षस्थल के समीप अत्यन्त निविड भाव म निकटवर्ती के रूप मे अनुभव करते हैं। उस समय अपने अभाव, अपनी शक्ति, अपने काम ऊपर उठकर हमारे चारो ओर प्राचीर नही बना देते। अति उग्र भेद-बोध हमारी प्रत्येक वस्तु को खण्ड खण्ड, पृथक पृथक करके नही रखता, महत् निःशब्दता के बीच में होकर निखिल के निश्वास हमारे शरीर के ऊपर आ गिरते हैं एव नित्य जाग्रत् निखिल जननी की अनिमेष दृष्टि हमारे सिरहाने के समीप प्रत्यक्षगम्य हो उठती है।

हमारे रात्रि के उत्सव उसी निभृत निगूढ अथच विश्वव्यापी मातृ-कक्ष क उत्सव होते हैं। इस समय हम लोग काम की बातें भूल जाते हैं, संग्राम की बातें भूल जाते हैं, आत्मशक्ति अभिमान की चर्चा

भूल जाते हैं, हम सब लोग मिलकर उनकी प्रसन्न मुखच्छवि के भिखारी बनकर खड़े रहते है, कहते हैं, जननी, जब आवश्यकता थी, तब तुमसे क्षुधा के अन्न, श्रम की शक्ति, पथ के पाथेय की प्रार्थना की थी—परन्तु इस समय सब आवश्यकताओं को बाहर ही छोड़ आकर तुम्हारी इस गोद के भीतर प्रवेश लिया है इस समय केवल तुम्हारी ही माँग कर रहे हैं। मैं तुम्हारे समीप अब और हाथ नहीं फैलाऊँगा, केवलमात्र तुम्हीं मुझे स्पर्श करो क्षमा करो, ग्रहण करो। तुम्हारे रजनी महासमुद्र मे अवगाहन स्नान करके विश्व-जगत् जब कल उज्ज्वल वेष मे, निर्मल ललाट मे, प्रभात के आलोक मे दण्डायमान होगा, उस समय जैसे मैं उसके साथ समान भाव से खड़ा हो सकूँ-उस समय जस मुझे ग्लानि न रहे। मेरी क्लान्ति दूर हो जाय, उस समय जैसे मैं हृदय के साथ कह सकूँ, सबका कल्याण हो, कल्याण हो, जैसे कह सकूँ, सबके भीतर जो हैं, मैं उन्हें देख रहा हूँ—उनका जो प्रसाद है, वे आज दिन भर मुझे जो देंगे, उसी *का मैं भोग करूगा, मैं किसी तरह भी लोभ नहीं करूँगा।*

प्रात काल मे जिन्होने हमारे पिता के रूप मे हमे कर्मशाला मे प्रेरित किया था, सन्ध्याकाल मे वे ही हमारी माता के रूप मे हम लोगों को अपने अन्त पुर की ओर आकर्षित कर रहे हैं। प्रात काल मे उन्होने हमे भार दिया था। सन्ध्याकाल मे वे ही हमारे भार को ले रहे हैं। प्रतिदिन ही दिन रात मे इन जो दोनो विभिन्न अवस्थाओ के बीच हमारा जीवन आन्दोलित हो रहा है—एक बार पिता हमे बाहर की ओर भेज रहे हैं, एक बार माता हमे अन्त पुर मे खींच रही है, एक बार अपनी ओर दौड़ना पड़ता है, दूसरी बार अखिल की ओर लौटना पड़ता है, इसी के भीतर हमारे जीवन और मृत्यु की गहरी रहस्यछवि आलोक-अन्धकार के तूलिकापात मे प्रतिदिन चित्रित होती रहती है।

अपने काव्य मे, गायन मे, आयु और अवसान के साथ हम लोग

दिनान्तर की उपमा देते रहते हैं—परन्तु सभी समय मे उसके सम्पूर्ण भाव को हम लोग हृदयङ्गमा नही करते, हम लोग केवल अवमान की ओर ही देखकर विषाद के नि श्वास छोडते हैं, परिपूर्ण की ओर नही देखते। हम लोग यह सोचकर भी नही देखते प्रतिदिन दिवावसान का इतना वडा जो ऐसा एक विपरीत व्यापार होता रहता है, हमारी शक्ति की जो एक ऐसी विपर्ययदशा उपस्थित होती है, उससे तो कुछ भी विश्लिष्ट नही हो पाता, ससार को आवृत्त कर लेने वाली हाहाकार ध्वनि नहीं उठती, महाकाश के नीचे विश्व के आराम की ही नि श्वास गिरती रहती है।

दिन हमारे जीवन की ही प्रतिकृति है। दिन का उजाला जिस तरह और सब लोगो को आवृत्त करके हमार कर्म स्थान इस पृथ्वी को ही एकमात्र जाज्वल्यमान कर देता है, हमारा जीवन भी हमारे चारो ओर उसी तरह एक वेष्टन की रचना करता है—इसीलिए हमारे जीवन के अन्तर्गत जो कुछ है, वही हमारे समीप इतना एकान्त है, इससे अधिक वडा जो और कुछ है, वह सहसा हमारे ध्यान मे ही नही आता। दिन के समय भी तो आकाश को भरे हुए ज्योतिष्कलोक विराजित रहता है। परन्तु कौन देख पाता है ? जो उजाला हमारे कर्म-स्थान के भीतर जलता है, वह उजाला ही वाहर की अन्य हर वस्तु को द्विगुणतर अन्धकारमय किये रखता है। उसी तरह हमारे इस जीवन को चारो ओर से वेष्टन करके शत महस्र ज्योतिर्मय विचित्र रहस्य अनेक आकारो म विराज रहे हैं, परन्तु हम देख कहाँ पाते है ? जो चेतना, जो वुद्धि, जो इन्द्रिय शक्ति हमारे पथ को उज्ज्वल करती है, हमारे कर्म-साधन की परिधि सीमा के भीतर हमारे मनोयोग को प्रवल बनाये रखती है, वह ज्योति ही हमारे जीवन की वहि सीमा के सर्वस्व को हमारे निकट अगोचर वनाये रखती है।

जीवन मे जव हमी कर्ता होते हैं, जव ससार ही सर्व प्रधान

होता है, जब हमारे सुख दुःख के चक्र की परिधि हमारे आयु-काल के भीतर ही विशेष भाव से परिच्छिन्न रहकर प्रकाशित होती रहती है, उस समय दिन का अवसान हो जाता है। जीवन का सूर्य अस्ताचल के अन्तराल में जा पड़ता है, मृत्यु हमें आँचल में छिपाकर गोद में उठा लेती है। उस समय वह जो अन्धकार का आवरण होता है। यह क्या केवल अभाव है, केवल शून्यता है? हमारे समीप क्या उसका एक सुगभीर और सुविपुल प्रकाश नहीं होता? हमारे जीवनाकाश के अन्तराल में जो असीमता हर समय विद्यमान है मृत्यु के तिमिर पट पर वही क्या देखते-देखते हमारे चारों ओर आविर्भूत नहीं हो पड़ती? उस समय क्या सहसा अपने इस सीमावच्छिन्न जीवन को असंख्य जीवन लोकों के साथ संयुक्त करके नहीं देख पाते? दिन की विच्छिन्न पृथ्वी को सन्ध्याकाश में जिस समय समस्त ग्रहों के झुण्ड के साथ नक्षत्र मंडली के साथ संयुक्त करके जान पाते हैं। उस समय सबका जैसे एक बृहद् छन्द, एक प्रकाण्ड तात्पर्य हमारे चित्त के भीतर प्रसारित हो उठता है, उसी तरह मृत्यु के बाद विश्व के साथ संयुक्त हमारे जीवन का विपुल तात्पर्य क्या हमारे समीप अति सहज ही प्रकट नहीं हो जाता? जीवित-काल में जिसे हम संयुक्त करके, पृथक करके देखते हैं, मृत्यु के बाद उसी को हम विराट के भीतर सम्पूर्ण करके देखने का अवकाश पाते हैं। हमारे जीवन की चेष्टा, हमारी जीविका का संग्राम जिस समय शान्त हो जाता है, उस समय उसी गहरी निस्तब्धता में हम लोग स्वयं को असीम के ही भीतर प्रतिष्ठित देख पाते हैं—अपनी व्यक्तिगत सीमा के भीतर नहीं, अपनी ममत्वगत शक्ति के भीतर नहीं।

इसी तरह जीवन से मृत्यु में पदार्पण, दिन से रात्रि में संक्रमण से ही अनुरूप है। यह बाहर से अन्तःपुर में प्रवेश, कर्मशाला से मातृ-क्रोड़ में आत्मसमर्पण, परस्पर के साथ पार्थक्य और विरोध में निखिल के साथ मिलन के भीतर की आत्मानुभूति है।

शक्ति स्वयं को घोषित करती है, प्रेम स्वयं को आवृत रखता

है। शक्ति का क्षेत्र आलोक, प्रेम का क्षेत्र अन्धकार है। प्रेम अन्तराल के भीतर से पालन करता है, लालन करता है, अन्तराल के भीतर ही खींच लाता है। विश्व के सभी भण्डार विश्व-जननी के गुप्त अन्तःपुर के भीतर हैं, इसीलिए हम लोग कुछ भी नहीं जानते कि कहाँ से यह निःशेष-विहीन प्राणों की धारा लोक-लोक में प्रवाहित हो रही है, कहाँ से यह अनिर्वाण चेतना का आलोक जीव-जीव में प्रज्ज्वलित होता रहता है, कहाँ से यह नित्य-सजीवित धी-शक्ति हृदय-हृदय में जाग्रत हो रही है। हम लोग नहीं जानते कि यह पुरातन जगत् की क्लान्ति कहाँ दूर होती है। जीर्ण-जरा के ललाट की शिथिल बलि-रेखा किस अमृत करस्पर्श से पुछकर फिर से नवीनता की सुकुमारता को प्राप्त करती है; नहीं जानते कि कणभार बीज के भीतर विपुल वनस्पति की महाशक्ति कहाँ किस तरह से छिपी रहती है। ससार का यह जो आवरण है, *जिस आवरण के भीतर ससार के सभी उद्योग अदृश्य रूप से काम* करते हैं, समस्त चेष्टाओं से विराम प्राप्त करके यथा समय नवीन बन जाता है, यह प्रेम का ही आवरण है। सुषुप्ति के भीतर यह प्रेम ही स्तम्भित है, मृत्यु के भीतर यह प्रेम ही प्रगाढ है, अन्धकार के भीतर यह प्रेम ही पुंजीकृत है। आलोक के भीतर यह प्रेम ही चचल शक्ति के पीछे अदृश्य बना रहता है—जीवन के भीतर यह प्रेम ही हमारे कर्तव्य के अन्तराल में रहकर प्रतिक्षण बल प्रेरणा, प्रतिक्षण क्षति-पूर्ति करता है।

हे महातिमिरावगुंठिता रमणीया रजनी, तुम पक्षी-माता के विपुल पक्षपुटों की भाँति शावकों को सुकोमल स्नेहाच्छादन में आवृत्त करके उत्तीर्ण होती है; तुम्हारे भीतर विश्वधात्री के परम स्पर्श को निविड भाव से निगूढभाव से अनुभव करना चाहता हूँ। तुम्हारा अन्धकार हमारी क्लान्त इन्द्रिय को आच्छन्न रखकर, हमारे हृदय को उद्घाटित करदे, हमारी शक्ति को अभिभूत करके हमारे प्रेम को उद्‌बोधित कर रक्खे, हमारे स्वयं के कर्तव्य-प्रयोग के अहङ्कार-सुख को

गर्व करके, माता के आलिङ्गन-पाश में अन्त तक स्वयं को वर्णन करने के आनन्द को ही गरीयमान करो।

हे विराम विभावरी की ईश्वरी माता, हे अन्धकार की अधिदेवता ! सुषुप्ति के भीतर जाग्रत, हे मृत्यु के भीतर विराजमान, तुम्हारे नक्षत्र दीपित आँगन के नीचे, तुम्हारी चरणच्छाया में लोट रहा हूँ। मैं अब और कोई श्रम नहीं करूँगा, केवल अपना भार तुम्हारे द्वार पर विसर्जित कर दूँगा, कोई चिन्ता नहीं करूँगा केवल चित्त को तुम्हारे समीप एकान्त समर्पित करूँगा, कोई चेष्टा नहीं करूँगा, केवल तुम्हारी इच्छा में अपनी इच्छा को विलीन करूँगा, कोई विचार नहीं करूँगा, केवल तुम्हारे उस आनन्द में अपने प्रेम को निमग्न कर दूँगा, कि

आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्द प्रयन्ति अभिसंविशन्ति।

यह देख रहा हूँ, तुम्हारे महान्धकार रूप के भीतर विश्व-भुवन के सभी आलोकपुञ्ज केवल बिन्दु-बिन्दु ज्योति रूप में एकत्र समावेत हो गए हैं। दिन के समय के पृथ्वी के छोटे-छोटे चाचल्य, हमारे स्वयं के किए हुए तुच्छ आन्दोलन हमारे समीप कितने विपुल-बृहद् रूप में दिखाई पड़ रहे हैं। परन्तु आकाश के वह जो सब नक्षत्र हैं, जिनके उद्दामवेग को हम लोग मन में भी धारण नहीं कर पाते, जिनकी उच्छ्-सित आलोक-तरङ्गों का आलोड़न हमारी कल्पना को परास्त कर देता है, तुम्हारे भीतर उनका वह प्रचण्ड आन्दोलन तो कुछ भी नहीं है; तुम्हारे अन्धकार वसनाञ्चल के तले, तुम्हारी अवनत स्थिर दृष्टि के नीचे वे सब स्तन्य-पान-निरत सुप्त शिशु की भाँति निश्चल, निस्तब्ध हैं। तुम्हारी विराट गोद में उनकी अस्थिरता भी स्थिरत्व है, उनका दुःसह तीव्र तेज माधुर्य रूप में प्रकाशित है। इसे देखकर इस रात्रि में मेरे तुच्छ चांचल्य का आस्फालन, मेरे क्षणिक तेज का अभिमान, मेरे ... का आक्रोश, तनिक भी नहीं ठहर पाता, तुम्हारे भीतर मैंने सब

कुछ स्थिर कर दिया है, सब कुछ आवृत्त कर दिया है, सब कुछ शांत कर दिया है, तुम मुझे ग्रहण करो, मेरी रक्षा करो—

यत्ते दक्षिण मुख तेन मां पाहि नित्यम् ।

मैं इस समय तुम्हारे निकट शक्ति की प्रार्थना करता हूँ । मुझे प्रेम दो, मैं ससार मे विजयी नही बनना चाहता, तुम्हारे निकट प्रणत होना चाहता हूँ, मैं सुख-दुख की अवज्ञा नही करना चाहता, सुख-दुख को तुम्हारे मगल हाथो का दान समझकर, विनय सहित ग्रहण करना चाहता हू । मृत्यु जिस समय मेरी कमशाना के द्वार पर खडी होकर नीरव-सङ्केत से आह्वान करेगी उस समय जैसे उसका अनुसरण करके जननी, तुम्हारे अन्त पुर के शान्ति-कक्ष म, नि शङ्क हृदय के भीतर मैं क्षमा प्राप्त करलू, प्रीति प्राप्त करलू, कल्याण प्राप्त करलू—विरोध का सम्पूर्ण दाह जैसे उस दिन सन्ध्या स्नान में समा जाये, समस्त वासनाओ का पङ्क जैसे घुल जाय, समस्त कुटिलता को जैसे सरल, समस्त विकृति को जैसे सस्कृत करके जा सकू । यदि वह अवकाश न मिले, यदि क्षुद्र-बल समाप्त हो जाय, फिर भी तुम्हारे विश्व-विधान के ऊपर सम्पूर्ण भाव से निर्भर रहकर जैसे दिन स रात्रि मे, जीवन से मृत्यु मे, अपनी अक्षमता से तुम्हारी करुणा मे एकान्त भाव से आत्म-विसर्जन कर सकू । इसे जैसे स्मरण रक्खू-जीवन को तुम्ही न मेरे लिए प्रिय बनाया था, मरण को भी तुम्ही मेरे लिए प्रिय बनाओगे, अपने दांये हाथ से तुमने मुझे ससार मे प्रेरित किया था, अपने बांये हाथ से तुम मुझे गोद मे खींच लोगे, अपने आलोक से मुझे शान्ति दी थी, अपने अन्धकार से मुझे शान्ति दोगे ।

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ।

स्वतन्त्रता का परिणाम

मनुष्य को दोनो किनारे बचाकर चलना पड़ता है, अपने निजी स्वातन्त्र्य एव सबके साथ मेल—दोनो ही विपरीत किनारे हैं। दोनो में से एक को भी बाद देने मे हमारा कल्याण नही है।

'स्वतन्त्रता नामक वस्तु मनुष्य के लिए बहुमूल्य है', इसे मनुष्य के व्यवहार मे ही समझा जा सकता है। धन देकर, प्राण देकर अपनी स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए मनुष्य कितनी लड़ाइयाँ नही लड़ता रहता है।

अपने विशेषत्व को सम्पूर्ण करने के लिए वह कहीं भी कोई बाधा नही मानना चाहता। इसमे जहां बाधा पाता है, वही उसे पीड़ा होती है। वही पर वह क्रुद्ध होता है, लुब्ध होता है, हनन करता है, हरण करता है।

परन्तु हमारी स्वतन्त्रता तो अबाधरूप से नहीं चल पाती। प्रथम तो वह जिन सब माल मसालो, जिन सब धन-जन को लेकर अपना कलेवर गढ़ना चाहती है, उनकी भी स्वतन्त्रता है, अपनी इच्छानुसार केवल शरीर के जोर से उन्हें अपने काम में नहीं लगा सकते। उस समय हमारी स्वतन्त्रता के साथ उनकी स्वतन्त्रता का एक उतारना-चढ़ाना चलता रहता है। वहां पर बुद्धि की सहायता से, विज्ञान की सहायता से हम लोग एक समझौता कर लेते हैं। वहां दूसरे की स्वतन्त्रता के लिए स्वतन्त्रता को कुछ परिमाण मे छोटा किये बिना एक दम निष्फल

होना पड़ता है। उस समय केवल स्वतन्त्रता को मानकर नहीं नियम को मानकर विजयी बनने की चेष्टा करनी पड़ती है।

परन्तु यह मजबूरी मे पडकर करना है—इसमे सुख नही है। एकदम ही सुख न हो, ऐसा नही है। बाधा को यथासम्भव अपने प्रयोजन की अनुगत बनाकर लाने मे जो बुद्धि और जो शक्ति परिश्रम करती है, उसी मे सुख है। अर्थात् केवल पाने का सुख नही है, परिश्रम करने का सुख है। इससे अपनी स्वतन्त्रता के जोर, स्वतन्त्रता के गौरव को अनुभव किया जाता है—बाधा न मिलने पर वह नही किया जा सकता था। इसी तरह जो अहकार की उत्तेजना जन्म लेती है, उससे हमारी जीतने की इच्छा, प्रतियोगिता की चेष्टा बढ उठती है। पत्थरो की बाधा पाकर झरने का पानी जिस तरह फनिल होकर उमड उठना चाहता है, उसी तरह परस्पर की बाधा से हमारे परस्पर की स्वतन्त्रता उमड उठती है।

जो भी हो, यह लडाई है। बुद्धि से बुद्धि की, शक्ति से शक्ति की, चेष्टा से चेष्टा की लडाई। पहले इस लडाई का अधिक भाग शारीरिक बल को ही सटाता था, तोड फोडकर काम निकालने की चेष्टा करता था। इसके द्वारा जिसे चाहे, उसी को क्षार क्षार किया जा सकता था, जो चाहता था, वह भी क्षार क्षार हो जाता था, अपव्यय की सीमा नहीं रहती थी। उसके बाद बुद्धि ने आकर कर्म-कौशल की अवतारणा की। उसने गाँठ को काटना नहीं चाहा, गाँठ को खोलने के लिए बैठ गई। यह काम इच्छा की चपलता अथवा अधैर्य के द्वारा नहीं हो सकता, शान्त होकर, सयत होकर, निश्चित होकर इसमे प्रवृत्त होना पड़ता है। यहाँ पर जीतने की चेष्टा अपने समस्त अपव्यय को रोककर, अपने बल को गुप्त रखकर बलवान् हो गई। झरना जिस तरह उपत्यका मे गिरकर, कितने ही वेग को सम्वरण कर, प्रशस्त हो उठता है हमारी स्वतन्त्रता का वेग उसी तरह बाहु-बल को छोड़कर, विज्ञान मे आकर, अपनी चपलता को छोड़कर, उदारता प्राप्त करता है।

यह स्वय ही होना है। और केवल स्वय को ही जानता है, अन्य को नहीं मानना चाहता। परन्तु बुद्धि केवल अपनी स्वतन्त्रता को लेकर काम नहीं कर सकती। दूसरों के भीतर उसे प्रविष्ट होकर खोज करनी पड़ती है–दूसरों को वह जितने ही अधिक रूप मे समझ सकेगी, उतना ही अपने काम का उद्धार कर सकेगी; दूसरों को समझने के लिए जाने मे दूसरों के दरवाजे में घुसने में, स्वय को दूसरों के नियम का अनुगत बनना हो पड़ता है। इस तरह स्वतन्त्रता की चेष्टा विजयी होने के लिए जाते ही स्वय को पराधीन किये बिना रह नहीं सकती।

यहाँ तक केवल प्रतियोगिता के रणक्षेत्र मे हमारी परस्पर की स्वतन्त्रता के विजयी होने की चेष्टा देखी गई। डार्विन के प्राकृतिक निर्वाचन तत्व इसी रणभूमि मे लडाई के तत्व हैं—यहाँ पर कोई किसी के साथ रियायत नही करता, सभी सबकी अपेक्षा बडे होना चाहते हैं।

परन्तु, क्रुप्टकिन आदि आधुनिक विज्ञान वेत्ता दिखाते हैं कि परस्पर को जीतने की चेष्टा, स्वय को बनाये रखने की चेष्टा ही प्राणि-समाज की एक मात्र चेष्टा नहीं है। दल बाँधने की, परस्पर सहायता करने की इच्छा, दूसरे को ठेलकर उठने की चेष्टा की अपेक्षा कम प्रबल नहीं है; वस्तुत अपनी वासना को खर्व कर के भी परस्पर सहायता करने की इच्छा ही प्राणियों के भीतर उन्नति का प्रधान उपाय बनी है।

तभी देखते हैं, एक ओर प्रत्येक के स्वातन्त्र्य की स्फूर्ति और दूसरी ओर समग्र के साथ सामजस्य, ये दोनों नीतियाँ ही एक साथ काम कर रही हैं। अहङ्कार एव प्रेम, विकर्षण एव आकर्षण सृष्टि को एक साथ गढ़ रहे हैं।

स्वातन्त्र्य का भी पूर्ण लाभ करें एव मिलन मे भी स्वय को पूर्ण-भाव से समर्पित करें, ऐसी होने पर ही मनुष्य की सार्थकता होगी। अर्जन करके हम पुष्ट होंगे एव वर्जन करके हमे आनन्द होगा, ससार के

भीतर इन दो विपरीत नीतियो का मिलन दिखाई पड़ता है। फलत स्वय को यदि पूर्ण करके मजिल न करें तो स्वय को पूर्णरूपमे दान किस तरह कर सकेंगे। वह कितना सा दान होगा! जितना बडा अहङ्कार है। उसे विसर्जित करने पर उतना ही बडा प्रेम होगा।

यह जो मैं हूँ, अतिक्षुद्र मैं हूँ इतने बड़े ससार के भीतर भी वही मैं स्वतन्त्र हूँ। चारो ओर कितना तेज, कितना वेग, कितनी वस्तुए, कितना भार है, उसकी सीमा ही नहीहै, परन्तु मेरे अहकार को यह विश्व ब्रह्माण्ड चूर्ण नही कर पाता, मैं इतना सा होने पर भी स्वतन्त्र हूँ। मेरे जिस अहकार न सभी के भीतर क्षुद्र मुझको ठेल रक्खा है, यही अहकार तो ईश्वर के भोग के लिए प्रस्तुत हो रहा है। इसे समाप्त करके उन्हे देकर फेक देंगे तभी आनन्द का चूडान्त होगा। इसे जगाने वाले समस्त दु सह दु ख का तभी अवसान होगा। भगवान के इस भोग की सामग्री को नष्ट करके कौन फेंकेगा?

अपने स्वातन्त्र्य को ईश्वर मे सम्पूर्ण रूप से समर्पित करने की पूर्ववर्ती अवस्था मे थोडा-बहुत-द्वन्द्व है। उसी समय एक ओर स्वार्थ, दूसरी ओर प्रेम, एक ओर प्रवृत्ति, दूसरी ओर निवृत्ति है। उसी दोलायमान अवस्था मे इस द्वन्द्व के भीतर ही जो सौंदर्य को प्रस्फुटित कर देता है, जो ऐक्य के आदर्श की रक्षा करता है, उसी को मङ्गल (कल्याण) कहते हैं। जो एक ओर हमारी स्वतन्त्रता को, दूसरी ओर अन्यो की स्वतन्त्रता को स्वीकार करके भी परस्पर के आघात से बेसुरा राग नही बजाता, जो स्वतन्त्र को एक समग्र की शान्ति प्रदान करता है, जो दोनो के अहकार को एक सौन्दर्य के परिणाम सूत्र मे बाँध देता है, वही मगल है। शक्ति स्वतन्त्रता को बडा देती है, मङ्गल स्वतन्त्रता को सुन्दर बनाता है, प्रेम स्वतन्त्रता को विसर्जन देता है। मङ्गल उसी शक्ति और प्रेम के बीच मे रहकर प्रबल अर्जन को एकान्त विसर्जन की ओर ही अग्रसर करता रहता है। इस द्वन्द्व की अवस्था म ही मङ्गल की

किरणें लगकर मानव-संसार में सौन्दर्य प्रात:-सन्ध्या के बादलों की भाँति विचित्र हो उठता है।

अपने साथ दूसरे का, स्वार्थ के साथ प्रेम का जहाँ पर संघात है, वहाँ पर मंगल की रक्षा करना बहुत सुन्दर एवं बहुत कठिन है। कवित्व जैसा सुन्दर होता है वैसा ही सुन्दर है एवं कवित्व जैसा कठिन होता है, वैसा ही कठिन है।

कवि जिस भाषा में कवित्व को प्रकट करना चाहता है वह भाषा तो उसकी बनाई हुई नहीं है। कवि के जन्म लेने से बहुत समय पहले ही वह भाषा अपनी एक स्वतन्त्रता को बिखरा चुकी है। कवि जिस भाव को जिस तरह से व्यक्त करना चाहता है, भाषा ठीक उसी तरह के ढेर को नहीं मानती। उस समय कवि के भाव की स्वतन्त्रता एवं भाव प्रकट करने के उपाय की स्वतन्त्रता में एक द्वन्द्व होता है। यदि वह द्वन्द्व केवल द्वन्द्व के आकार में ही पाठकों की दृष्टि में पड़ता रहे, तो पाठक काव्य की निन्दा करता है, कहता है, भाषा के साथ भाव का मेल नहीं हुआ। ऐसे स्थल पर बात का अर्थ ग्रहण होने पर भी वह हृदय को तृप्त नहीं कर पाती। जो कवि भाव की स्वतन्त्रता एवं भाषा की स्वतन्त्रता के अनिवार्य द्वन्द्व को बचाकर सौंदर्य की रक्षा कर पाते हैं, वे धन्य हो जाते हैं। जो कहने की बात है, उसे पूरा कह पाना कठिन है, भाषा की बाधा के कारण कितना ही कहा जा सकता है एवं कितना ही नहीं कहा जा सकता— परन्तु फिर भी सौन्दर्य को प्रस्फुटित करना होगा, कवि का यही काम है। भाव की जितनी भी हानि हुई है, सौंदर्य उसकी अपेक्षा बहुत अधिक पूर्ति कर देता है।

उसी तरह हम अपनी स्वतन्त्रता को संसार के बीच प्रकट करते हैं, वह संसार तो हमारे अपने हाथों से गढ़ा हुआ नहीं है; वह हमें पग-पग पर बाधा देता है। जैसा होने पर सब ओर से हमारा पूरा विकास हो पाता, वैसी तय्यारी चारों ओर नहीं है, फलतः संसार में हमारे साथ

ाहर का द्वन्द्व है ही। किसी के जीवन मे यही द्वन्द्व केवल दिखाई पड़ता हता है, वह केवल बेसुरा बजाता रहता है और कोई-कोई गुणी ासार मे इस अनिवार्य द्वन्द्व के भीतर ही सङ्गीत की सृष्टि करते है, वे पने समस्त अभाव एव व्याघात के ऊपर ही सौंदर्य की रक्षा करते हैं। ाङ्गल ही वह सौन्दर्य है। ससार के प्रतिघात मे उनके अबाध-स्वातन्त्र्य वकास मे जो क्षति होती है, मगल उसकी अपेक्षा बहुत अधिक पूर्ति कर ता है। वस्तुत द्वन्द्व की बाधा ही मगल के सौदर्य को प्रकाशित हो उठने का अवकाश देती है, स्वार्थ की क्षति ही क्षति पूर्ति का प्रधान उपाय हो उठती है।

इस तरह देखा जाता है, स्वातन्त्र्य स्वय को सफलता देने के लिये ही स्वय ही खर्वता को स्वीकार करना रहता है, अन्यथा वह विकृति मे जा पहुचता है एव विकृति विनाश मे जाकर उपनीत होगी ही। स्वातन्त्र्य जहाँ पर मगल का अनुसरण करके प्रेम की ओर नही गया है, वहाँ वह विनाश की ओर ही जा रहा है। अतिवृद्धि द्वारा वह विकृति प्राप्त होने पर, विश्व-प्रकृति उसके विरुद्ध हो उठती है, कुछ दिनों के लिये उपद्रव करके उसे मरना ही पडता है।

अतएव, मनुष्य का स्वातन्त्र्य जब मगल की सहायता से समस्त द्वन्द्व को निरस्त करके सुन्दर हो उठता है, तभी विश्वात्मा के साथ मिलन मे सम्पूर्ण आत्म-विसर्जन के लिए वह प्रस्तुत हो जाता है। वस्तुत. हमारा दुर्दान्त स्वातन्त्र्य मगल-सोपान से प्रेम मे उत्तीर्ण होने के बाद ही सम्पूर्ण होता है, समाप्त होता है।

वर्ष शेष

पुरातन वर्ष का सूर्य पश्चिम प्रान्तर के प्रान्त में चुपचाप अस्तमित हो गया। जो कुछ वर्ष पृथ्वी पर काटे हैं, आज उन्हीं की विदा-यात्रा की निःशब्द पदध्वनि इस निर्वाणलोक निस्तब्ध आकाश के भीतर जैसे अनुभव हो रही है। वह अज्ञात समुद्र पारगामी पक्षी की भाँति कहाँ चला गया, उसका कोई चिन्ह नहीं है।

हे चिर दिन के चिरन्तन, अतीत-जीवन को यह जो आज विदा दे रहे हो इस विदा को तुम सार्थक करो, आश्वासन दो कि जिन वस्तुओं के नष्ट हो जाने का शोक किया जा रहा है, वे सभी यथा समय तुम्हारे भीतर सफल हो रही हैं। आज जो प्रशान्त विषाद सम्पूर्ण सन्ध्याकाश को आच्छन्न करके हमारे हृदय को आवृत कर रहा है, वह सुन्दर हो, मधुमय हो, उसके भीतर अवसाद की छाया तक न पड़े। आज वर्षावसान के अवसान के दिन विगत जीवन के उद्देश्य से हमारे ऋषि पितामहों के आनन्दमय मृत्युमय का उच्चारण करें,

ॐ मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धव.।

माध्वीर्न. सन्त्वोषधीः।

मधु नक्तम् उतोषसो मधुमत् पार्थिव रजः।

मधु मान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्य.। ॐ।

वायु मधु को वहन कर रही है। नदी, समुद्र सभी मधुक्षर

पर रहे है। औषधि वनस्पति सभी मधुमय हो। रात्रि मधुमय हो, उषा मधुमय हो, पृथ्वी की धूलि मधुमय हो। सूर्य मधुमान हो।

रात्रि जिस तरह आगामी दिवस को नवीन करती है, निद्रा जिस तरह आगामी जागरण को उज्ज्वल करती है, उसी तरह वर्तमान वर्षा-वसान भी विगत जीवन की स्मृति वेदना को सन्ध्या के भिल्ली-झंकार मुग्ध अन्धकार की भाँति हृदय के भीतर व्याप्त किये दे रहा है वह जैसे नववर्ष के प्रभात के लिये हमारे आगामी वर्ष के आशानुकूल का लालन करके विकसित कर देता है। जो जाता है वह जैसे शून्यता को छोड जाता है, वह जैसे पूर्णता के लिए स्थान बना जाता है। जो वेदना हृदय पर अधिकार करती है, वह जैसे नये आनन्द को जन्म देने वाली वेदना होती है।

जो विषाद ध्यान का पूर्वाभास है, जो शान्ति मगल कर्म-निष्ठा की जननी है, जो वैराग्य उदार प्रेम का अवलम्बन है, जो निर्मल शोक तुम्हारे निकट आत्म समर्पण का मन्त्रगुरु है वही आज की आसन्न रात्रि का अग्रगामी होकर हमे सन्ध्यादीपोज्ज्वल-गृह-प्रत्यागत श्रान्त बालक की भाँति आचल के भीतर आवृत्त करले।

पृथ्वी पर सभी वस्तुयें आती है एव जाती है—कुछ भी स्थिर नही है, सभी चचला है—वर्ष की समाप्ति की सन्ध्या मे यह बात ही तप्त-दीर्घ नि श्वास के साथ हृदय के भीतर प्रवाहित होती रहती है। परन्तु जो है, जो सदैव स्थिर रहता है, जिसे कोई भी हरण नही कर पाता, जो हमारे हृदय हृदय मे विराजमान है-गतवर्ष मे उसी ध्रुव का क्या कोई परिचय नही मिलता, जीवन मे क्या उसका कोई लक्षण चिन्हित नही होता ? सभी कुछ क्या केवल आया है और चला गया है ? आज शुद्ध भाव से ध्यान करके कह रहा हूँ कि ऐसा नही है—जो आया है और जो गया है, उसमे कही भी जाने की सामर्थ्य नही है; हे निस्तब्ध, वह तुम्हारे भीतर विधृत हो रहा है। जो तारा बुझ गया है वह तुम्हारे

भीतर बुझा नहीं है, जो पुष्प झर गया है, वह तुम्हारे भीतर विकसित है, मैं जिसको लय देखता हूँ, तुम्हारे समीप से वह किसी भी समय में च्युत नहीं हो पाता। आज सन्ध्या का अन्धकार में शान्त होकर तुम्हारे भीतर निखिल के उसी स्थिरत्व को अनुभव करूँ। विश्व की प्रतीयमान चंचलता को, अवसान को, विच्छेद को एकदम भूल जाऊं। गत वर्ष यदि अपने उड्डीन पक्ष-पुट पर हमारे किसी प्रियजन को हरण कर ले जाय तो हे परिणाम के आश्रय, हाथ जोडकर सम्पूर्ण हृदय के साथ तुम्हारे ही प्रति उसे समर्पित करता हूँ। जीवन में जो तुम्हारा था मृत्यु पर भी वह तुम्हारा ही है। मैंने उसके साथ अपना कहकर जो सम्बन्ध स्थापित किया था, वह क्षणकालीन था, वह छिन्न हो गया है। आज तुम्हारे ही भीतर उसके साथ जिस सम्बन्ध को स्वीकार कर रहा हूँ, उसका फिर विच्छेद नहीं है। वह भी तुम्हारी गोद में है, मैं भी तुम्हारी गोद मे रहा हूँ। असीम जागरण के बीच मैं भी नहीं खोया हूँ, वह भी नहीं खोया है—तुम्हारे भीतर अत्यन्त निकट से, अति निकटतम स्थान से उसकी आहट पा रहा हूँ।

विगत वर्ष यदि मेरी किसी चिरपालित अपूर्ण आशा को शाखाच्छिन्न कर रहा हो तो हे परिपूर्ण स्वरूप, जब नतमस्तक होकर एकान्त धैर्य के साथ उसे तुम्हारे निकट समर्पित करके चोट खाये हुए उद्यम से दुबारा वारिसिंचन करने के लिए प्रत्यावृत्त हो रहा हूँ। तुम मुझे पराभूत मत होने देना। एक दिन अपनी अभावनीय कृपा के बल से अपने असिद्ध साधनों को अपूर्व भाव से सम्पूर्ण करके, अपने हाथ से सहसा मेरे ललाट पर स्थापना पूर्वक मुझे विस्मित और चरितार्थ करोगे, यह आशा ही मैंने हृदय मे ग्रहण की है।

चाहे जिस हानि चाहे जिस अन्याय चाहे जिस अवमावना को विगत वर्ष मेरे मस्तक पर निक्षेप कर रहा हो—कार्य में चाहे जिस बाधा, प्रणय मे चाहे जिस आघात, लोगों के द्वारा चाहे जिस प्रतिकूलता से मुझे पीडित करता रहे—फिर भी उसे अपने मस्तक के ऊपर तुम्हारा

ही आशिप हस्तस्पर्श समझकर, आज उसे प्रणाम करता हूँ। गत वर्ष का प्रथम दिन नीरव स्मित-मुख से अपने वस्त्राञ्चल के भीतर तुम्हारे निकट से मेरे लिए क्या लेकर आया था। वह दिन उसने मुझे जताया नहीं था—मुझे क्या दान किया, आज वह भी मुझसे नहीं कहा गया, मुँह को ढँककर निशब्द पखो से चला गया। दिन-रात मे, आलोक-अन्धकार मे उसके सुख दुख के दूत मेरे हृदय गुहा-तल मे क्या सचित कर गए, उस सम्बन्ध मे मुझे बहुत से भ्रम हैं, मैं निश्चित रूप से कुछ भी नही जानता—किसी दिन तुम्हारे आदेश से भण्डार का द्वार उद्घाटित होने पर जो कुछ देखूँगा, उसके लिए पहले से ही आज की सध्या मे वर्षावसान को भक्ति पूर्वक प्रणाम करके कृतज्ञता का विदाई सम्भाषण जता रहा हू।

इस वर्ष-शेष की शुभ सन्ध्या मे हे नाथ, तुम्हारी क्षमा को मस्तक पर धारण करके सबको क्षमा करूँ, तुम्हारे प्रेम को हृदय मे अनुभव करके सबसे प्रीति करूँ, तुम्हारे मगल भाव का ध्यान करके सबके मगल की कामना करूँ। आगामी वर्ष मे धैर्य के साथ सहन करूँ वीर्य के साथ कर्म करूँ, आशा के साथ प्रतीक्षा करूँ, आनन्द के साथ त्याग करूँ एव भक्ति के साथ सर्वदा सर्वत्र सचरण करूँ।

ॐ एकमेवाद्वितीयम्।

उत्सव का दिन

सवेरे के समय अन्धकार को छिन्न कर के आलोक जैसे ही फूट कर बाहर निकलता है, वैसे ही वन उपवन में पक्षियों का उत्सव मच उठता है। यह उत्सव किस का उत्सव है? क्यों इन सब पक्षियों का दल नाचते कूदते, गीत गाते हुए इस तरह अस्थिर हो उठता है? उस का कारण यही है, प्रतिदिन प्रभात में आलोक के स्पर्श से पक्षीगण नये रूप में अपनी प्राणशक्ति का अनुभव करते हैं। देखने की शक्ति, उड़ने की शक्ति, खाद्य-सन्धान करने की शक्ति उनके भीतर जाग्रत होकर उन्हें गौरवान्वित बना देती है— आलोक से उद्भासित इस विचित्र विश्व के भीतर वे अपने प्राणवान, गतिवान, चेतनावान पक्षी जन्म को सम्पूर्ण भाव से उपलब्ध कर के हृदय के आनन्द को संगीत के उत्स (फव्वारे) में उत्सारित कर देते हैं।

संसार में जहाँ अव्याहत शक्ति का प्रचुर प्रकाश है, वहीं पर जैसे मूर्तिमान उत्सव है। इसीलिए हेमन्त की सूर्य किरण से अगहन के पक्व शस्य-समुद्र में सोने का उत्सव हिल्लोलित होता रहता है, इसीलिए आम्रमजीर की निविड़ गन्ध से व्याकुल नव वसन्त में, पुष्प-विचित्र कुंजवन में, उत्सव का उत्साह उद्दाम हो उठता है। प्रकृति के भीतर इस रूप में हम लोग अनेक स्थानों पर अनेक भावों में शक्ति का जयोत्सव देख पाते हैं।

मनुष्य का उत्सव कब है? मनुष्य जिस दिन अपने मनुष्यत्व

की शक्ति को विशेष भाव से स्मरण करता है, विशेष भाव से उपलब्ध करता है, उसी दिन। जिस दिन हम लोग अपने को प्रत्याहिक (प्रति-दिन के) प्रयोजन के द्वारा चलाते हैं, उस दिन नहीं, जिस दिन हम लोग अपने को सांसारिक सुख दुःख के द्वारा क्षुब्ध करते हैं, उस दिन नहीं, जिस दिन प्राकृतिक नियम-परम्परा के हाथों अपने को खेल की पुतली की भांति क्षुद्र और जड भाव से अनुभव करते हैं, वह दिन हमारे उत्सव का दिन नहीं होता—उस दिन तो हम लोग जड जैसे उद्भिद जैसे, साधारण जन्तु जैसे होते हैं—उस दिन तो हम लोग अपने स्वयं के भीतर सर्वजयी मानशक्ति उपलब्ध नहीं करते—उस दिन हमारे लिए आनन्द कहाँ है ? उस दिन हम घर में अवरुद्ध रहते हैं, उस दिन हम कर्म में कठोर रहते हैं, उस दिन हम उज्जवलभाव से स्वयं को भूषित नहीं करते, उस दिन हम उदार भाव से किसी का आह्वान नहीं करते, उस दिन हमारे घर में ससार-चक्र की घर घर ध्वनि सुनाई देती है, परन्तु सगीत सुनाई नहीं पडता।

प्रति दिन मनुष्य क्षुद्र दीन, एकाकी है—परन्तु उत्सव के दिन मनुष्य वृहत् है, उस दिन वह सब मनुष्यों के साथ एकत्र होकर वृहत् बन जाता है। उस दिन वह सम्पूर्ण मनुष्यत्व की शक्ति को अनुभव करके महत् होता है।

हे भातृगण, आज मैं आप सब लोगों को 'भाई' कह कर सम्भाषण कर रहा हूँ, आज आलोक प्रज्वलित हुआ है, सगीत ध्वनित हुआ है, द्वार खुल गया है, आज मनुष्यत्व के गौरव ने हम लोगों को स्पर्श किया है, आज हम में कोई एकाकी नहीं है, आज हम सब मिल कर एक हैं, आज अतीत के सहस्र वर्षों की अमृतवाणी हमारे कानों में ध्वनित हो रही है, आज अनागत सहस्रों वर्ष हमारे कण्ठ स्वर को वहन करने के लिए सामने प्रतीक्षा कर रहे हैं।

आज हमारा किस का उत्सव है ? शक्ति का उत्सव है। मनुष्य के भीतर कौनसी आश्चर्यमय शक्ति आश्चर्यजनक रूप में प्रकट हो रही

है ! अपने समस्त क्षुद्र प्रयोजनों का अतिक्रम करके मनुष्य किस ऊँचाई पर जाकर खड़ा हुआ है ! ज्ञानी ज्ञान की किस दुर्लक्ष्य दुर्गमता के भीतर दौड़ लगा रहा है, प्रेमी प्रेम के किस परिपूर्ण आत्म-विसर्जन के भीतर जाकर उत्तीर्ण हुआ है, कर्मी ने कर्म के किस अश्रान्त दुःसाध्य साधन के भीतर अकुतोभय (बिना किसी भय)से प्रवेश किया है ! ज्ञान में, प्रेम में, कर्म में मनुष्य ने जिस अपरिमेय शक्ति को प्रकट किया है, आज हम लोग उसी शक्ति के गौरव का स्मरण करेंगे उत्सव करेंगे। आज हम अपने को, व्यक्ति-विशेष नहीं, परन्तु मनुष्य के रूप में जानकर धन्य होंगे।

मनुष्य के समस्त प्रयोजन को दुरूह बना कर ईश्वर ने मनुष्य के गौरव को बढ़ाया है। पशु के लिए मैदान भरे तृण पड़े हुए हैं। मनुष्य को अन्न के लिए प्राणपण से मरना होता है। प्रति दिन हम लोग जो अन्न ग्रहण करते हैं, उस के पीछे मनुष्य की बुद्धि, मनुष्य का उद्यम, मनुष्य का उद्योग रहता है—हमारी अन्न की मुट्ठी हमारा गौरव है। पशु को शरीर के कपड़ों का अभाव एक दिन के लिए भी नहीं होता, मनुष्य नंगा होकर जन्म ग्रहण करता है। शक्ति के द्वारा अपने अभाव पर विजय पाकर मनुष्य को अपने अङ्ग ढँकने पड़े हैं, शरीर के वस्त्र मनुष्यत्व के गौरव हैं। आत्म रक्षा के उपाय को साथ लेकर मनुष्य पृथ्वी पर नहीं आता, अपनी शक्ति द्वारा उसे अपने अस्त्र का निर्माण करना पड़ा है, कोमल त्वचा एवं दुर्बल शरीर को लेकर मनुष्य जो आज समस्त प्राणी-समाज के भीतर अपने को विजयी बनाये हुए है, यह मानव शक्ति का गौरव है। मनुष्य को दुःख देकर ईश्वर ने मनुष्य को सार्थक किया है, उसे अपनी पूर्ण शक्ति अनुभव करने का अधिकारी किया है।

मनुष्य की यह शक्ति यदि अपने ही प्रयोजन साधन की सीमा के भीतर सार्थकता लाभ करती, तो वैसा होने पर भी हमारे पक्ष में यथेष्ट होता; वैसा होने पर भी हम लोग जगत् के सभी जीवों के ऊपर अपना

श्रेष्ठत्व स्थापित कर सकते थे। परन्तु हमारी शक्ति के भीतर किस महासमुद्र से यह कौनसा ज्वार आया है—वह हमारे समस्त अभावों के कूल को पार करके, समस्त प्रयोजनों को लांघ कर, अहर्निशि अम्लान्त उद्यम के साथ यह किस असीम के राज्य मे, किस अनिर्वचनीय आनन्द की ओर दौड रहा है। जिसे जानने के लिए सब कुछ त्याग दिया है, उसे जानने की इसे क्या आवश्यकता है। जिस के निकट आत्म समर्पण करने के लिए इस की समस्त अन्तरात्मा व्याकुल हो उठी है, उसके साथ इस को आवश्यकता का सम्बन्ध कहाँ है ! जिस का काम करने के लिए यह अपना आराम, स्वार्थ, यही क्यों, प्राण तक को तुच्छ कर रहा है, उस के साथ इस के लेन देन का हिसाब लिखा जाना क्यो बना हुआ है ! आश्चर्य है। यही आश्चर्य है। आनन्द है। यही आनन्द है। जो स्थान मनुष्य की समस्त आवश्यकताओ की सीमा मे बाहर चला गया है, उसी स्थान पर ही मनुष्य की गभीरतम सर्वोच्चतम शक्ति सर्दैव ही स्वयं को स्वाधीन आनन्द मे निमग्न कर देने की चेष्टा करती है। ससार मे और कही भी इसकी कोई तुलना नही दीखती। मनुष्य शक्ति का यह प्रयोजनातीत परम गौरव आज के उत्सव में आनन्द-सगीत मे ध्वनित हो रहा है। यही शक्ति अभाव के ऊपर विजयी, भय-शोक के ऊपर विजयी, मृत्यु के ऊपर विजयी है। आज अतीत-भविष्यत् के सुमहान मानव-लोक की ओर दृष्टि स्थापन सहित मानवात्मा के भीतर इसी अभ्रभेदी चिरन्तन शक्ति के दर्शन करके स्वय को सार्थक करूँगा।

एक बार कितने सहस्र वर्ष पूर्व मनुष्य ने यह बात कही थी—

'वेदाहमेत पुरुप महान्तम् आदित्यवर्ण तमसः परस्तात्।'

मैंने उन्ही महान पुरुप को जाना है, जो ज्योतिर्मय हैं, जो अन्धकार के परपारवर्ती हैं।

इस प्रत्यक्ष पृथ्वी पर यही हमे जानना आवश्यक है कि, कहाँ हमारा खाद्य है, कहाँ हमारा खादक है, कहाँ हमारा आराम है, कहाँ

हमारा आघात है—परन्तु इस सब जानकारी को बहुत दूर पीछे फेंक कर मनुष्य चिर रहस्य पूर्ण अन्धकार के उस किस दूसरे किनारे पर, वह किस ज्योतिर्लोक मे किस की प्रत्याशा म चला गया है ! मनुष्य ने जो यह अपने समस्त प्रत्यक्ष प्रयोजन के अभ्यन्तर मे भी उसी तिमिरातीत ज्योतिर्मय महान् पुरुष को जाना है, आज हम मनुष्य के उसी आश्चर्य-मय ज्ञान के गौरव को लेकर उत्सव करने बैठे हैं। वह ज्ञान की शक्ति किसी सकीर्णता किसी नित्य नैमित्तिक आवश्यकता के भीतर आबद्ध नही रहना चाहती, जो ज्ञान की शक्ति केवलमात्र मुक्ति का आनन्द उपलब्ध करने के लिए सीमाहीनता के भीतर परम साहस के साथ अपने पक्ष का विस्तार कर देती है जो तेजस्वी ज्ञान अपनी शक्ति को किसी प्रयोजन साधन के उपायरूप म नही, परन्तु चरमशक्ति रूप म ही अनु-भव करने के लिए अग्रसर है—मनुष्यत्व के भीतर आज हम उसी ज्ञान, उसी शक्ति का स्पर्श करके कृतार्थ होंगे।

कितने सहस्र वर्ष पूर्व मनुष्य ने एकबार इस बात का उच्चा-रण किया था—

'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।'

ब्रह्म का आनन्द जिन्होने जान लिया है वे किसी से भी भय नहीं पाते।

इस पृथ्वी पर जहाँ कि प्रबल दुर्बल को पीड़ित करता है, जहाँ व्याधि विच्छेद, मृत्यु प्रतिदिन की घटना है, विपत्ति जहाँ अदृश्य रह-कर प्रत्येक पद क्षेप म हमारी प्रतीक्षा करती है एव प्रतिकार का उपाय जिस जगह अधिकांश स्थल म हमारे आयत्ताधीन नहीं है, वहाँ पर मनुष्य ने सभी प्राकृतिक नियमो के ऊपर मस्तक उठाकर यह क्या बात कही है कि, 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन!' आज हम लोग दुर्बल मनुष्य के मुख की इस प्रबल अभयवाणी को लेकर उत्सव करने बैठे हैं। सहस्रशीर्ष भय के कराल कवल के सम्मुख खड़े होकर जो

मनुष्य अकुण्ठित-चित्त मे कह सकता है, ब्रह्म हैं, भय नही है—आप स्वय को उसी मनुष्य के अन्तर्गत जान कर गौरव-लाभ करेंगे ।

बहुत सहस्र वर्षों पूर्व उच्चारित यह वाणी आज भी ध्वनित हो रही है—

'तदेतत् प्रेय पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मात् अन्तरतर यदयमात्मा ।'

अन्तरतर यह जो आत्मा है, यह पुत्र के कारण प्रिया वित्त के कारण प्रिय, अन्य समस्त के कारण प्रिय है ।

ससार की समस्त स्नेह-प्रेम की सामग्री के भीतर मनुष्य का जो प्रेम पूर्णरूप मे तृप्त नही होता—ससार के समस्त प्रिय पदार्थ के हृदय मे उसका अन्तरतम जो प्रियतम है, जो समस्त आत्मीय-पर म अन्तरतर हैं, जो समस्त दूर-निकट से अन्तरतर हैं, उनके प्रति जो प्रम ऐसे प्रबल आवेग मे, ऐसी सन्देह हीनता से आकृष्ट हुआ है - हम जानत हैं, मनुष्य का जो परमतम प्रेम अपनी समस्त प्रिय सामग्री को एक क्षण मे विसर्जित करने को उद्यत होता है, मनुष्य की उसी परम आश्चर्यमय प्रेम शक्ति को हम लोग उपलब्ध करके उत्सव मनाने को समागत हुए है।

सन्तान के लिए हमने मनुष्य को दु साध्य कर्म मे प्रवृत्त होते हुए देखा है अनेक जन्तुओं को भी उसी तरह देखा है, स्वदेशीय स्वदल के लिए भी हमने मनुष्य को दुरुह चेष्टा का प्रयोग करत हुए देखा है, पिपीलिका को भी, मधुमक्षिका को भी उसी तरह देखा है । परन्तु मनुष्य का कर्म जहाँ स्वय को, अपनी सन्तान का एव अपने दल का भी अतिक्रम कर गया है, वही पर हमने मनुष्यत्व की पूर्ण शक्ति के विकास मे परम गौरव का लाभ किया है । बुद्धदेव की करुणा सन्तान-वात्सल्य नहीं है, देशानुराग भी नहीं है—बछड़ा जिस तरह गोमाता के पूर्णस्तनों मे दूध खींच लेता है, उसी तरह क्षुद्र अथवा महत् किसी भी श्रेणी की

स्वार्थ प्रवृत्ति उस करुणा को आकर्षित नहीं कर पाती। वे जलभाराक्रान्त निविड़ मेघ की भाँति अपने प्रभूत प्राचुर्य से स्वयं को निविशेष रूप में सब लोगों के ऊपर बरसा रहे हैं। यही परिपूर्णता का चित्र है, यही ऐश्वर्य है। ईश्वर प्रयोजनवश नहीं, शक्ति के अपरिमीम प्राचुर्यवश ही स्वयं को निर्विशेषरूप से विश्वरूप में दान कर रहे हैं। मनुष्य के भीतर भी जब हम लोग उसी तरह शक्ति के प्रयोजनातीत प्राचुर्य एवं स्वतःप्रवृत उत्सर्जन को देख पाते हैं, तभी मनुष्य के भीतर ईश्वर का प्रकाश विशेषरूप से अनुभव करते हैं। बुद्धदेव ने कहा था—

> 'माता यथा नियं पुत्तं आयुसा एकपुत्तमनुरक्खे।
> एवम्पि सब्बभूतेसु मानसम्भावये अपरिमाणं।
> मेत्तञ्च सब्बलोकस्मिं मनसम्भावये अपरिमाणं।
> उद्धं अधो च तिरियञ्च असम्बाधं अवेरमसपत्तं।
> तिट्ठचरं निसिन्नो वा सयानो वा यावतस्स विगतमिद्धो।
> एतं सतिं अधिट्ठेय ब्रह्ममेतं विहारं मिधमाहु॥'

माता जिस तरह प्राण देकर भी अपने पुत्र की रक्षा करती है, चारों इसी तरह सभी प्राणियों के प्रति अपरिमाण दयाभाव उत्पन्न करना होगा। ऊपर की ओर, नीचे की ओर, और सम्पूर्ण जगत के प्रति बाधाशून्य, हिंसाशून्य, शत्रुताशून्य मानस से अपरिमाण दयाभाव उत्पन्न करना होगा। कौन खड़ा हो रहा है, कौन चल रहा है, कौन बैठ रहा है, कौन सो रहा है, जब तक निद्रित न हुआ जाय, इसी मैत्रभाव में अधिष्ठित रहना होगा—इसी को ब्रह्म-विहार कहते हैं।

यह जो ब्रह्म-विहार की बात भगवान् बुद्ध ने कही है, यह मुँह की बात नहीं है, यह अभ्यस्त नीतिकथा नहीं है; हम जानते हैं, यह उनके जीवन के भीतर से सत्य होकर उद्भूत हुई थी। इसी को लेकर आज हम गौरव करेंगे। यह विश्वव्यापी चिर-जाग्रत करुणा, यह ब्रह्म-

विहार, यह समस्त आवश्यकताओ से परे अहेतुक अपरिमेय मैत्री शक्ति मनुष्य के भीतर केवल कथा की बात बन कर नही रही। यह किसी-न-किसी स्थान पर सत्य बन कर उठी थी। इस शक्ति पर अब हम अविश्वास नही कर सकते; यह शक्ति मनुष्यत्व के भण्डार मे चिरदिनो के लिए सचित होगई है। जिस मनुष्य के भीतर ईश्वर की अपर्याप्त दया-शक्ति का ऐसे सच्चे रूप में विकास हुआ है, अपने को वही मनुष्य जान-कर उत्सव कर रहे हैं।

इस भारतवर्ष में एकदिन महासम्राट् अशोक ने अपनी राज-शक्ति को धर्म विस्तार के कार्य मे नियुक्त किया था। राजशक्ति की मादकता कैसी सुतीव्र होती है, उसे हम सभी लोग जानते है; वह शक्ति क्षुधित अग्नि की भाँति गृह से गृहान्तर मे, ग्राम से ग्रामान्तर मे, देश से देशान्तर मे अपनी ज्वालामयी लोलुप रसना को प्रेरित करने के लिए व्यग्र है। उसी विश्वलुब्ध राजशक्ति को महाराज अशोक ने कल्याण की दासता मे नियुक्त कर दिया था। तृप्ति-हीन भोग को विसर्जित करके उन्होंने श्रान्ति-हीन सेवा को ग्रहण किया था। राजत्व के पक्ष मे यह प्रयोजनीय नही था—यह युद्ध-सज्जा नही थी, देश-विजय नही थी, वाणिज्य-विस्तार नही था, यह मङ्गल शक्ति का अपर्याप्त प्राचुर्य था, इसने सहसा चक्रवर्ती राजा का आश्रय लेकर उनके समस्त राजाडम्बर को एक क्षण मे हीनप्रभा करके सम्पूर्ण मनुष्यत्व को समुज्ज्वल कर दिया था। कितने बडे-बडे राजाओ के बडे-बडे साम्राज्य विध्वस्त, विस्मृत, धूलिसात् होगये, परन्तु अशोक के भीतर इस मङ्गल-शक्तिका महान् आविर्भाव हमारे गौरव का धन बनकर आज भी हमारे भीतर शक्ति-सचार कर रहा है। मनुष्य के भीतर जो कुछ भी सत्य हो उठा है, उसके गौरव से, उसकी सहायता से, मनुष्य फिर किसी दिन वचित नहीं रहेगा। आज मनुष्य के भीतर समस्त स्वार्थों पर विजय पाने वाली इस अद्भुत मगल-शक्ति की महिमा का स्मरण करके हम परिचित-अपरिचित सभी लोग *मिल कर उत्सव मनाने में प्रवृत्त हुए हैं। मनुष्य के इसी सब*

महत्व ने हमारे दीनतम को हमारे श्रेष्ठतम के साथ एक गौरव-बन्धन में बाँध दिया था। आज हम मनुष्य के इस नव अर्जित साधारण सम्पत्ति के समान अधिकार के सूत्र में भाई हो गये हैं, आज मनुष्यत्व *की मातृशाला में हमारा भ्रातृ-सम्मिलन है।*

ईश्वर के शक्ति विकास को हम लोगों ने प्रभात के ज्योतिर्मय के भीतर देखा है फाल्गुन के पुष्प-पर्याप्ति के भीतर देखा है महासमुद्र के नीलाम्बुनृत्य के भीतर देखा है, परन्तु समस्त मानवों के भीतर जिस दिन उसका विराट विकास देखने को इकट्ठे होंगे, उसी दिन हमारा महामहोत्सव होगा (मनुष्यत्व के भीतर ईश्वर की महिमा जिस स्थान-स्थान अभ्रभेदी शिखरमाला माला पर आसन-विराजित है, उस उत्तुङ्ग तीर्थाश्रम में हम लोग मानव-माहात्म्य के ईश्वर को मानव-संघ के भीतर बैठा कर पूजा करने आये हैं।

हमारे भारतवर्ष में सभी उत्सव इसी महानुभाव के ऊपर प्रतिष्ठित हैं यह बात हम लोग प्रतिदिन भूलने को बैठ गए हैं। अपने जीवन की जिन सब घटनाओं को उत्सव की घटना बनाया है, उनमें से *प्रत्येक में हमने विश्व-मानव के गौरव को अर्पित करने की चेष्टा की है।* जन्मोत्सव से लेकर श्राद्धानुष्ठान पर्यन्त किसी को भी हमने व्यक्तिगत घटना की क्षुद्रता में आबद्ध करके नहीं रक्खा। इन सब उत्सवों में हम संकीर्णता को विसर्जित कर देते हैं, उस दिन हमारे घर के दरवाजे एकदम खुल जाते हैं, केवल आत्मीय स्वजनों के लिए नहीं, केवल बन्धु-बान्धवों के लिए नहीं, बुलाये गये बिना बुलाये गये सभी के लिए। पुत्र जो जन्मग्रहण करता है वह हमारे घर में ही नहीं, सभी मनुष्यों के घर में जन्म लेता है। सभी मनुष्यों के गौरव का अधिकारी बन कर वह जन्म ग्रहण करता है। उसके जन्म-मङ्गल के आनन्द में सब मनुष्यों का आह्वान न करें ? वह यदि केवल मात्र मेरे ही घर में भूमिष्ठ होता, तो उस जैसा दीन-हीन संसार में और कौन रहता ! सभी मनुष्यों ने उसके लिए अन्न, वस्त्र, आश्रय, भाषा, ज्ञान, धर्म को प्रस्तुत कर रक्खा है। मनुष्य के

हृदय-स्थित उसी मङ्गल-शक्ति की गोद मे जन्म लेकर वह एक पल मे धन्य हो गया है। उसके जन्म के उपलक्ष मे एक दिन घर के सब दरवाजे खोलकर यदि सर्व मनुष्यो को स्मरण न करूँ तो कब करूँगा! अन्य समाजो ने जिसे घर की घटना बनाया है, भारतीय समाज ने उसे ससार की घटना बनाया है एव यह जगत की घटना ही जगदीश्वर के पूर्णमङ्गल के आविर्भाव को प्रत्यक्ष करने का यथार्थ अवकाश है। विवाह व्यापार को भी भारतवर्ष केवलमात्र पति-पत्नी के आनन्द मिलन की घटना के रूप मे नही देखता। प्रत्येक मङ्गल विवाह को मानव-समाज के एक-एक स्तम्भ के रूप मे देखकर भारतवर्ष ने उसे सभी मानवो का व्यापार (मामला) बना दिया है, इस उत्सव मे भी भारतवर्ष के गृहस्थ सभी मनुष्यो की अतिथि के रूप मे अभ्यर्थना करते हैं—ऐसा करके ही यथार्थ भाव मे ईश्वर का घर मे आव्हान किया जाना होता है, केवल मात्र ईश्वर के नाम का उच्चारण करने से ही नही होता। इसी तरह घर की प्रत्येक विशेष घटना मे हम लोग किसी किसी दिन घर को भूल कर समस्त मानवो के साथ मिल जाते हैं, और वही दिन समस्त मानवो के बीच ईश्वर के साथ हमारे मिलन का दिन है।

हाय, अब हम अपने उत्सव को प्रतिदिन सङ्कीर्ण बनाते आ रहे हैं। इतने समय तक जो विनयरसाप्लुत मगलव्यापार था, अब वही ऐश्वर्यमदोद्धत आडम्बर मे परिणत हो गया है। अब हमारे हृदय सकुचित हैं, हमारे दरवाजे बन्द हैं। अब केवल बन्धु-बान्धव एव धनीमानियो के अतिरिक्त मङ्गल-कर्म के दिन हमारे घर मे और किसी का स्थान नहीं होता। आज हम जन-साधारण को दूर करके, स्वय को विच्छिन्न-क्षुद्र करके ईश्वर के बाधाहीन पवित्र प्रकाश से वचित करके, 'बडे बन गये है' की कल्पना करते है। आज हमारा दीपालोक उज्ज्वलतर खाद्य प्रचुरतर, आयोजन विचित्रतर हो गया है, परन्तु मङ्गलमय अन्तर्यामी देख रहे हैं हमारी शुष्कता, हमारी दीनता, हमारी निर्लज्ज कृपणता को। आडम्बर दिन-प्रतिदिन जितना ही बढ रहा है, उतना ही

इस दीपालोक मे, इस गृह-सज्जा मे, इस रस-लेश-शून्य कृत्रिमता के भीतर, उस शान्त मङ्गल-स्वरूप की प्रशान्त प्रसन्न मुखच्छवि हमारे मदान्ध दृष्टि-पथ से आच्छन्न होती जा रही है। अब हम केवल स्वयं को ही देख रहे हैं अपने सोने-चाँदी की चकाचौंध को दिखा रहे हैं, अपने नाम को सुन रहे हैं और सुना रहे हैं।

हे ईश्वर तुम आज हम लोगों का आह्वान करो। वृहद् मनुष्यत्व के भीतर आह्वान करो। आज उत्सव का दिन केवल मात्र भावरस सम्भोग का दिन नही है, केवल मात्र माधुर्य मे निमग्न होने का दिन नहीं है, आज वृहत् सम्मिलन के बीच शक्ति-उपलब्ध करने का दिन है, शक्ति सग्रह का दिन है। आज तुम हम लोगों को विच्छिन्न जीवन के प्रात्यहिक जड़ता, प्रात्यहिक उदासीन्य से उद्बोधित करो, प्रतिदिन की निर्वीर्य निश्चेष्टता से, आराम-आवेश से उद्धार करो। जिस कठोरता मे जिस उद्यम मे, जिस आत्म-विसर्जन मे हमारी सार्थकता है, उसी के भीतर आज हम लोगो को प्रतिष्ठित करो। हम इतने मनुष्य एकत्र हुए हैं। आज यदि युग-युग से तुम्हारे मनुष्य समाज के भीतर जो सत्य का गौरव, जो प्रेमका गौरव जो मगल का गौरव, जो कठिन-वीर्य निर्भीक महत्व का गौरव उद्भासित होता रहा है, उसे न देख पायें। देखें केवल क्षुद्र दीप के आलोक को, तुच्छ धन के आडम्बर को, तो सब कुछ व्यर्थ हो गया— युग-युग मे महापुरुषों के कण्ठ से जो सब अभयवाणी अमृतवाणी उच्चारित होती आई हैं, उन्हे यदि महाकाल के मङ्गल शख-निर्घोष की भाँति आघात सुन पाये, सुने केवल लौकिकता के कलरव एव साम्प्रदायिकता के वाक्य विन्यास को, तो सभी कुछ व्यर्थ हो गया। इस समस्त घनाडम्बर की निविड कुंभटिकारासि को भेद कर एकबार उसी सब पवित्र दृश्य के भीतर ले जाओ, जहाँ धूलि-शय्या पर नग्न-शरीर से तुम्हारे साधक बैठे हुए हैं, जहाँ तुम्हारे सर्वत्यागी सेवक कर्तव्य के कठिन पथ पर खाली हाथो दौड़ पड़े हैं—जहाँ तुम्हारे श्रेष्ठपुत्र गण दारिद्रय के द्वारा निष्पिष्ट, विषयीजनो द्वारा परित्यक्त, मदान्धों द्वारा अवमानित

हैं। हाय देव, वहां पर कहां है दीपच्छटा, वहां है वाद्योघम, वहाँ है स्वर्ण भण्डार, वहा है मणिमाला। परन्तु वही पर तेज है वही पर शक्ति है, वही पर दिव्यैश्वर्य है, वही पर तुम हो। दूर करो दूर करो इस सब आवरण अच्छादन, इस सब क्षुद्र दम्भ, इस सब मिथ्या कोलाहल, इस सब अपवित्र आयोजन को-मनुष्यत्व के उस अभ्रभेदीचूडा विशिष्ट निराभरण निस्तब्ध राजनिकेतन के द्वार के सामने अब मुझे खडा करदो। वही पर कोलाहल उसी कठिन क्षेत्र मे, उसी रिक्त निर्जनता के भीतर, उसी बहुयुगीन अनिमेष दृष्टिपात के सामने तुम्हारे निकट पहुचकर दीक्षा लूँ, प्रभु।

हाथो पर रखदो
अपने हाथो से अपने अमोघ बाणो को,
अपने अक्षय तूणीर को। अस्त्र की दीक्षा दो,
रणगुरु। तुम्हारा प्रबल पितृस्नेह
ध्वनित हो उठे आज कठोर आदेश मे।
करो मुझे सम्मानित नये वीर-वेष मे,
दुरुह कर्तव्यभार से, दु सह कठोर
वेदना से। पहिनादो मेरे अगो मे
क्षत चिन्ह-अलङ्कार। धन्य करो दास को
सफल चेष्टाओ और निष्फल प्रयासो से।

नववर्ष

जिस अक्षर पुरुष का आश्रय लेकर—अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतव सम्वत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति—दिन एव रात्रि, पक्ष एव मास, ऋतु एव सम्वत्सर विधृत होकर अवस्थिति करते हैं, उन्होंने आज नववर्ष की प्रथम प्रात सूर्य किरण से हमें स्पर्श किया है। इस स्पर्श के द्वारा उन्होने अपने ज्योतिर्लोक से, अपने आनन्द लोक से हम लोगो को नव वर्ष का आह्वान प्रेषित किया है। उन्होने इसी समय कहा है, पुत्र, अपने इस नीलाम्बर वेष्टित तृणधान्यश्यामल धरणीतल पर तुम्हें जीवन धारण करने का वर दिया है—तुम आनन्दित होओ, तुम बल प्राप्त करो।

प्रान्तर के भीतर पुण्य-निकेतन मे नव वर्ष के प्रथम निर्मल आलोक के द्वारा हमारा अभिषेक हुआ है। हमारे नव जीवन का अभिषेक। मानव-जीवन के जिस महोच्च सिंहासन पर विश्व-विधाता ने हमे बैठने के लिए स्थान दिया है उस से आज हम नव गौरव का अनुभव करेंगे। हम लोग कहेंगे, हे ब्रह्माण्ड पति, यह जो अरुण रागारक्त नीलाकाश के नीचे हम लोग जाग्रत हुए हैं, सो हम धन्य है। यह जो चिर पुरातन अन्नपूर्णा वसुन्धरा को हम लोग देख रहे हैं, सो हम धन्य हैं। यह जो गीत-गन्ध-वर्ण के स्पन्दन से आन्दोलित विश्व-सरोवर के बीच हमारे चित्त-शतदल ज्योति परिप्लावित अनन्त की ओर उद्भिन्न हो उठ रहे हैं, सो हम धन्य हैं। आज के प्रभात मे यह जो ज्योतिर्धारा

हमारे ऊपर बरस रही है, इस के भीतर तुम्हारा अमृत है, वह व्यर्थ नही होगा, उसे हम लोग ग्रहण करेंगे; यह जो वृष्टि-धौत विशाल पृथ्वी की विस्तीर्ण श्यामलता है, इस के भीतर तुम्हारा अमृत व्याप्त हो रहा है, वह व्यर्थ नही होगा। उसे हम लोग ग्रहण करेंगे; यह जो निश्चल महाकाश हमारे मस्तक के ऊपर अपने स्थिर हाथ को स्थापित किए हुए, वह तुम्हारे ही अमृतभार से निस्तब्ध है, वह व्यर्थ नही होगा, उसे हम लोग ग्रहण करेंगे।

इस महिमान्वित ससार मे आज के नव वर्ष का दिन हमारे जीवन के भीतर जिस गौरव को वहन करके लाया है—इस पृथ्वी पर निवास करने का गौरव, इस आलोक मे विचरण करने का गौरव, इस आकाश के नीचे आसीन होने का गौरव—उसे यदि परिपूर्ण भाव से चित्त के भीतर ग्रहण करूँ तो फिर विषाद नही है नैराश्य नही है, भय नही है, मृत्यु नही है। तब उस ऋषि वाक्य को समझ सकूँगा।

'कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।'

फिर कौन शरीर-चेष्टा करता, फिर कौन प्राण-धारण करता, यदि इस आकाश मे आनन्द न रहता।

आकाश को परिपूर्ण करके वे आनन्दित हैं, इसीलिए हमारा हृत्पिण्ड स्पन्दित है, हमारा रक्त प्रवाहित है, हमारी चेतना तरङ्गित है। वे आनन्दित हैं, इसीलिए सूर्यलोक के विराट यज्ञ-होम मे अग्नि-उत्स उत्साहित है; वे आनन्दित हैं, इसीलिए पृथ्वी के सर्वाङ्ग को परिवेष्टित करके तृणदल वायु मे कम्पित होते रहते हैं; वे आनन्दित हैं। इसीलिए ग्रहों में, नक्षत्रो मे आलोक का अनन्त उत्सव है। मेरे भीतर वे आनन्दित हैं, इसीलिए मैं विद्यमान हूँ; इसीलिए मैं ग्रह तारको के साथ, लोक-लोकान्तर के साथ अविच्छेद्य भाव मे जड़ित हूँ—उनके आनन्द मे मैं अमर हूँ, समस्त विश्व के साथ मेरी समान मर्यादा है।

उनके प्रतिनिमेष की इच्छा ही हमारे प्रति मुहूर्त का अस्तित्व है, आज नववर्ष के दिन इसी बात को यदि उपलब्ध करूँ—अपने भीतर उनके अक्षय आनन्द को यदि स्तब्ध गम्भीर भाव से हृदय में उपभोग करूँ—तो ससार की किसी बाह्य-घटना को स्वय से अधिक प्रबलतर समझकर अभिभूत नहीं होऊँगा; क्योंकि घटनावली अपने सुख दुख, विरह-मिलन, लाभ-हानि, जन्म-मृत्यु को लेकर हम लोगो को क्षण-प्रतिक्षण स्पर्श करती है और अपसारित हो जाती है। वृहत्तम विपत्ति भी कितने दिनो की है, महत्तम दुख भी कितना होता है, दु सहतम विच्छेद ही हमारे कितना हरण करता है—उनका आनन्द रहता है; दुख उसी आनन्द का ही रहस्य है, मृत्यु उसी आनन्द का ही रहस्य है। इस रहस्य का भेद नहीं कर सकता, नही कर सका—हमारी बोध शक्ति से यह शाश्वत आनन्द इतने विपरीत आकार मे इतने विविध भाव मे क्यो प्रतीयमान होता है, उसे नही जान सका—परन्तु इसे यदि निश्चित रूप से जानलूँ, एक क्षण सर्वत्र उसी परिपूर्ण आनन्द के न रहने पर सब कुछ उसी समय छाया की भाँति विलीन हो जाता है, यदि जानलूँ,

"आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते
आनन्देन जातानि जीवन्ति
आनन्द प्रयन्त्यभिसविशन्ति '
तो—
'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन ।'

अपने भीतर और अपने बाहर उस ब्रह्म के आनन्द को जानकर किसी भी अवस्था मे फिर भय प्राप्त नही होता।

स्वार्थ की जड़ता और पाप का आवर्त ब्रह्म के इस नित्य विराजमान आनन्द की अनुभूति से हम लोगों को वचित करते हैं। उस समय सहस्रो राजा हमसे कर (टैक्स) लेने के लिए उद्यत होते हैं, सहस्रो स्वामी हमे सहस्रों कामो में चारो ओर चक्कर कटवाते रहते हैं। उस

समय जो कुछ हमारे सामने आ उपस्थित होता है, वही बडा बन जाता है–उस समय सभी विरह व्याकुल, सभी विपत्तियाँ विभ्रान्त कर देती हैं-सभी को चूडान्त समझकर भ्रम होता है लोभ का विषय सम्मुख उपस्थित होते ही मन को लगता है। उसे पाये बिना काम नही चलेगा, वासना का विषय उपस्थित होते ही मन को लगता है, इसे पा लेना ही मेरी चरम सार्थकता है। क्षुद्रता के इस सब अविश्राम क्षोभ में 'भूमा' हमारे निकट अगोचर बने रहते हैं, एव प्रत्येक क्षुद्र घटना हम लोगो को पग–पग पर अपमानित कर जाती है।

इसीलिए हमारी प्रतिदिन की प्रार्थना यही है कि,

'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृत गमय।'

मुझे असत्य मे सत्य मे ले जाओ, प्रति निमेष की खण्डता से अपनी अनन्त परिपूर्णता के भीतर मुझे उपनीत करो, अन्धकार मे से मुझे ज्योति में ले जाओ, अहङ्कार का जो अन्तराल, विश्व जगत् हमारे सामने जिस स्वातन्त्र्य को लेकर खडा है, मुझे एव जगत को तुम्हारे भीतर से न देखने देने वाला जो अन्धकार है, उससे मुझे मुक्त करो, मृत्यु से मुझे अमृत मे ले जाओ—मेरी प्रवृत्ति मुझे मृत्यु के झूले पर चढाकर झुला,रही है, क्षण भर का भी अवसर नही देती, मेरी भीतर स मेरी इच्छाओ को खर्व करके, मेरे भीतर अपने आनन्द को प्रकाशमान करो, वह आनन्द ही अमृतलोक है।

आज के नववर्ष के दिन मे यही हमारी विशेष प्रार्थना है। सत्य आलोक और अमृत के लिए हम लोग हाथ जोडे खडे हैं। कह रहे हैं—

'आविराविर्मएधि।'

हे स्वप्रकाश, तुम हमारे निकट प्रकाशित होओ।

अन्तर मे, बाहर मे तुम्हारे उद्भासित होते ही, प्रवृत्ति का दासत्व

जगत का दौरात्म्य कहाँ चला जाता है—उस समय तुम्हारे भीतर समस्त देश-काल का एक अनवच्छिन्न सामंजस्य एवं परिपूर्ण समाप्ति देखकर, सुगभीर शांति के बीच हम लोग निमग्न और निस्तब्ध हो जाते हैं। उस समय, जिस चेष्टा हीन बल में सम्पूर्ण जगत् सहज ही विघृत है वह हमारे हृदय में अवतीर्ण हो जाता है, जिस चेष्टा हीन सौंदर्य में निखिल भुवन परस्पर ग्रथित है वह हमारे जीवन में आविर्भूत हो जाता है। उस समय, मैं जो तुम्हें आत्मसमर्पण करता हूं, यह बात मन में नहीं रहती—अपने सम्पूर्ण जगत् के एक साथ तुम्हीं मुझे ले रहे हो, यह बात ही मुझे जान पड़ती है।

वह स्वप्रकाश जितने दिन हमारे निकट स्वयं को प्रकाशित नहीं करेंगे, उतने दिन जैसे अपने भीतर होकर उनकी ओर बाहर निकलने का एक द्वार खुला रहेगा। उसी मार्ग से होकर प्रतिदिन प्रभात में उनके समीप स्वयं को उत्सर्ग करके आ सकते हैं। हमारे जीवन के एक दिन के साथ दूसरे दिन का जो बन्धन है वह जैसे केवल स्वार्थ का बन्धन न बने, जड़ अभ्याससूत्र का बन्धन न बने—एक वर्ष के साथ दूसरे वर्ष को जैसे प्रतिदिन के निवेदन के द्वारा उन्हीं के सम्बन्ध से आबद्ध करके सम्पूर्ण बना सकूं। ऐसे किसी सूत्र से मानव-जीवन के दुर्लभ मुहूर्तों को न बांधता रहूँ, जो मृत्यु के स्पर्श मात्र से विच्छिन्न हो जाय। जीवन के जो वर्ष चले गए, उन्हें पूजा के पद्म की भाँति उन्हें उत्सर्ग नहीं कर पाया, उनकी तीन सौ पैंसठ पखुड़ियों को दिन प्रतिदिन छिन्न करके कीचड़ में फेंकता रहा हूँ। वर्तमान वर्ष के अविकसित प्रथम मुकुल ने सूर्य के आलोक में मस्तक उठाया है—इसे हम खण्डित नहीं करेंगे, सौन्दर्य से, सौगन्ध्य से, शुभता से इसे परिपूर्ण बनायेंगे। ऐसा कभी भी असाध्य नहीं है—वह शक्ति हमारे भीतर है—

'नात्मानमवमन्येत ।'

स्वयं का अपमान, अवज्ञा मत करो।

'न ह्यात्मपरिभूतस्य भूतिर्भवति शोभना।'

स्वय को दीन कहकर जो व्यक्ति अपमान करता है, -
भी शोभन ऐश्वर्य प्राप्त नहीं होता।

धर्म का जो आदर्श सर्वश्रेष्ठ है, जिस आदर्श मे ब्रह्म की ज्योति विशुद्ध भाव से प्रतिफलित होती है, वह कल्पना-गम्य असाध्य नहीं है; उसकी रक्षा करने का तेज हमारे भीतर है, स्वय को जाग्रत रखने की शक्ति हम मे है, एवं जाग्रत रहने पर अन्याय, असत्य, हिंसा, ईर्ष्या, प्रलोभन द्वार के समीप आकर दूर चले जाते हैं। हम लोग भय को त्याग सकते हैं, हीनता का परिहास कर सकते हैं, हम लोग प्राण विसर्जित कर सकते हैं—यह क्षमता हम में से प्रत्येक की है। केवल दीनता से उस शक्ति पर अविश्वास करने के कारण ही उसका व्यवहार नही कर पाते। वह शक्ति हमे किस भूमानन्द मे, किस चरम सार्थकता मे ले जा सकती है, उसे न जानने के कारण ही आत्मा की उस शक्ति को हम लोग स्वार्थ मे एवम् व्यर्थ चेष्टाओ में एव पाप के आयोजनो मे नियुक्त कर देते हैं। सोचते हैं, अर्थ लाभ हम लोगो का चरम सुख है, वासना-तृप्ति ही हम लोगो का परमानन्द है, इच्छा की बाधाओ का मोचन ही हम लोगो की परम मुक्ति है। हम लोगो की जो शक्ति चारों ओर बिखरी हुई है, उसे एकाग्रधारा से ब्रह्म की ओर प्रवाहित कर देने से जीवन के कर्म सहज हो जाते हैं, सुख-दु ख सहज हो जाते हैं, मृत्यु सहज हो जाती है। वही शक्ति हम लोगो को वर्षा के स्रोत की भाँति अनायास ही वहन करके ले जाती है, दुःख-शोक, विपत्ति-आपत्ति, बाधा विघ्न उसके पथ के सामने शरवन की भाँति मस्तक झुका देते हैं, उसे प्रतिहत नही कर पाते।

दुबारा कहता हूँ, यह शक्ति हम लोगो के भीतर है। केवल, चारों ओर बिखरी रहने के कारण ही उसके ऊपर अपना समस्त भार समर्पित करके गति लाभ नहीं कर पाते। स्वय को प्रतिदिन स्वयं ही वहन करना

पड़ता है। प्रत्येक काम हमारे कन्धे के ऊपर आ पड़ता है, प्रत्येक काम के आशा-नैराश्य, लाभ-हानि का समस्त ऋण स्वयं को ही अन्तिम कौड़ी तक चुकाना पड़ता है। स्रोत के ऊपर जिस तरह माँझी की नौका रहती है एवं नौका के ऊपर ही उसका सम्पूर्ण बोझ रहता है, उसी तरह ब्रह्म के प्रति जिनका चित्त एकाग्रभाव से धावमान है, उनका समस्त संसार इस परिपूर्ण भाव के स्रोत में बहता चला जाता है एवं कोई बोझ उनके कन्धे को पीड़ित नहीं करता।

नव वर्ष के प्रभातकालीन सूर्यालोक में खड़े होकर आज अपने हृदय का चारों ओर से आह्वान करते हैं। भारत वर्ष का जो पैतृक मंगल शंख घर के कोने में उपेक्षित होकर पड़ा हुआ है, समस्त प्राणों के निश्वास उसमें भर दें—उस मधुर गम्भीर शंख ध्वनि को सुनकर हमारा विक्षिप्त चित्त अहंकार से, स्वार्थ से, विलास से, प्रलोभन से हट आएगा। आज शतधारा एक धारा होकर गोमुखी के मुख से निकली हुई गंगा की भाँति प्रवाहित होगी—वैसा होने पर क्षण भर में ही प्रान्तरगामी यह निर्जन तीर्थ यथार्थ में हरिद्वार तीर्थ बन जायेगा।

हे ब्रह्माण्डपति, इस नव वर्ष के प्रभात में तुम्हारे ज्योति-स्नात तरुण सूर्य ने पुरोहित बनकर चुपचाप हमारे आलोक के अभिषेक को सम्पन्न किया है। हमारे ललाट पर आलोक ने स्पर्श किया है। हमारे दोनों नेत्र आलोक से धुल गए हैं। हमारे पथ आलोक से रंजित हो गये हैं। हमारे सद्योजाग्रत हृदय व्रत ग्रहण के लिए तुम्हारे सम्मुख उपविष्ट हो गए हैं। जिस शरीर को आज तुम्हारे समीरण ने स्पर्श किया है, उसे जैसे प्रतिदिन पवित्र रखते हुए तुम्हारे कर्म में नियुक्त करूं। जिस मस्तक पर तुम्हारी प्रभात किरणों की वर्षा हुई है, उस मस्तक को भय, लज्जा और हीनता की अवनति से बचाकर तुम्हारी ही पूजा में प्रणत करूँ। तुम्हारी नाम-गीत धारा ने आज प्रत्यूष में जिस हृदय को पवित्र-जल से स्नान कराया है वह जैसे आनन्दपूर्वक पाप

का परिहास कर सके, आनन्द पूर्वक तुम्हारे कल्याण-कर्म मे जीवन को उत्सर्ग कर सके, आनन्द पूर्वक दारिद्रय को आभूषण बना सके। आनन्द पूर्वक दुःख को महीयान् कर सके, एव आनन्दपूर्वक मृत्यु को अमृत रूप मे वरण कर सके। आज का सवेरा कल जैसे विस्मृत न हो। प्रतिदिन का प्रातः सूर्य हम लोगों को लज्जित न देखे; उसका निर्मल आलोक हमारी निर्मलता का, उसका तेज हमारे तेज का साक्षी बना रहे—एव प्रति सन्ध्याकाल मे हमारे प्रत्येक दिन को निर्मल अर्घ्य की तरह रक्तिम स्वर्ण-थाल मे वहन करके तुम्हारे सिंहासन के सम्मुख स्थापित कर सके। हे पिता, मेरे भीतर नियतकाल तुम्हारा जो आनन्द स्तब्ध बना हुआ है, जिस आनन्द मे तुम मेरा क्षण भर के लिए भी परित्याग नही करते, जिस आनन्द मे तुम मेरी प्रत्येक जगत् मे रक्षा करते हो, जिस आनन्द मे सूर्योदय प्रतिदिन ही मेरे निकट अपूर्व रहता है, सूर्यास्त प्रति सध्या मे मेरे निकट रमणीय रहता है, जिस आनन्द मे अज्ञात भुवन मेरा आत्मीय है, अगण्य नक्षत्र मेरी सुप्त रात्रि के मणिमाल्य हैं जिस आनन्द मे जन्म-मात्र से ही मैं बहुकाल का प्रिय परिचित हूँ, समस्त अतीत मानवो के मनुष्यत्व का उत्तराधिकारी हूँ, जिस आनन्द मे दुःख, नैराश्य, विपत्ति, मृत्यु कुछ भी लेशमात्र निरर्थक नहीं है—मैं जैसे प्रवृत्ति के क्षोभ से, पाप की लज्जा से, अपने भीतर तुम्हारे उसी आनन्द मन्दिर के द्वार को स्वय के निकट अवरुद्ध करके रखते हुए, पथ के पक मे स्वेच्छा से लोटने को ही अपना सुख, अपनी स्वाधीनता समझकर भ्रम न करूँ। जगत् तुम्हारा जगत् है आलोक तुम्हारा आलोक है, प्राण तुम्हारी निःश्वास है, यह बात स्मरण रखते हुए जीवन-धारण का जो परम पवित्र गौरव है, उसका अधिकारी बनूँ, अस्तित्व का जो अपार अज्ञेय रहस्य है, उसे वहन करने के उपयुक्त बनूँ—एव प्रतिदिन तुम्हारा यह कहते हुए ध्यान करूँ—

'ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियोयोनः प्रचोदयात्।'

विश्व-सविता इस सम्पूर्ण भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक को जिस तरह प्रत्येक निमिष मे प्रकाश के भीतर प्रेरित कर रहे हैं, उसी तरह वे मेरी बुद्धिवृत्ति को प्रतिनिमेष मे प्रेरित कर रहे हैं—उनसे प्रेरित इस जगत् से उसी जगदीश्वर को उपलब्ध करू, उनकी प्रेरित इस बुद्धि मे उसी चेतनस्वरूप का ध्यान करू ।

'ॐ एकमेवा द्वितीयम् ।'

दुःख

जगत्–संसार मे विधान के बारे मे जैसे ही हम विचार करके देखने को जाते हैं, वैसे ही 'इस विश्व-राज्य मे दु ख क्यों है, यह प्रश्न ही सबसे अधिक हमे सशय मे आन्दोलित कर उठता है। हम मे से कोई उसे मानव-पितामह के आदिम पाप का दण्ड बताता है, कोई उसे जन्मान्तर का कर्मफल कहता है, परन्तु उससे दु ख तो दु ख ही बना रहता है।

न बने रहने की सामर्थ्य जो नहीं है। दु ख का तत्व और सृष्टि का तत्व एकदम एक साथ जो बँधा हुआ है। कारण, अपूर्णता ही तो दुःख है और सृष्टि ही तो अपूर्ण है।

वह अपूर्णता है ही क्यों ? यह एकदम आरम्भ (मूल) की बात है। सृष्टि अपूर्ण नही होगी, देश–काल मे विभक्त नही होगी, कार्य-कारण मे आबद्ध नही होगी, ऐसी सृष्टि–हीन आशा को तो हम मन मे भी नहीं ला सकते।

अपूर्ण के मध्य मे न होने पर पूर्ण का प्रकाश किस तरह से होगा ?

उपनिषद् ने कहा है, जो कुछ भी प्रकाशित हो रहा है, वह उन्हीं का अमृत आनन्दरूप है। उनकी मृत्यु-हीन इच्छा ही इस समस्त रूप मे व्यक्त हो रही है।

ईश्वर का यह जो प्रकाश है, उपनिषद् ने इसे तीन भागों में

विभक्त करके देखा है। एक प्रकाश जगत् में, दूसरा प्रकाश मानव-समाज में, तीसरा प्रकाश मानव-आत्मा मे है। एक शान्त, एक शिवं, एक अद्वैतं है।

शान्त स्वय मे ही स्वय स्तब्ध रहे तो प्रकाश को नहीं पा सकेगा; यह जो चचल विश्व–जगत् केवल चक्कर काटता रहता है, इसकी प्रचण्ड गति के भीतर ही वे अचचल नियम के रूप में अपने शान्तरूप को व्यक्त कर रहे हैं। शान्त इस सम्पूर्ण चांचल्य को विधृत करता रहता है, इसीलिए वे शान्त हैं, अन्यथा उनका प्रकाश कहा है!

शिव केवल स्वय मे ही स्वय स्थिर रहकर उन्हें शिव ही नहीं कह पाता। ससार मे चेष्टा और दुःख की सीमा नहीं है, उस कर्म-क्लेश के भीतर अमोघ मङ्गल के द्वारा वे अपने शिव–स्वरूप को प्रकाशित कर रहे हैं। मङ्गल ससार के समस्त दु ख-ताप का अतिक्रम करता आरहा है, इसीलिए वे मगल हैं, वे धर्म हैं, अन्यथा उनका प्रकाश कहां है।

अद्वैत यदि स्वय से स्वय ही एक होकर रहते तो उस ऐक्य का प्रकाश किस तरह होता? हमारा चित्त ससार में अपने-पराये के भेद-वैचित्र्य के द्वारा केवल आहत प्रतिहत ही होता रहता है; उसी भेद के भीतर प्रेम के द्वारा वे अपने अद्वैत स्वरूप को प्रकट कर रहे हैं। प्रेम यदि समस्त भेदो के भीतर सम्बन्ध स्थापित न करता तो अद्वैत किसका अवलम्बन लेकर स्वय को प्रकट करते!

जगत् के अपूर्ण होने के कारण ही वे चचल हैं, मानव-समाज के अपूर्ण होने के कारण ही वे सचेष्ट हैं, एवं हमारा आत्मबोध अपूर्ण होने के कारण ही हम *आत्मा को एव अन्य सबको विभिन्न रूप से जानते* हैं। परन्तु उस चचलता के भीतर ही शान्ति है, दु ख-चेष्टा के भीतर ही सफलता है एव विभेद के भीतर ही प्रेम है।

अतएव यह बात याद रखनी होगी कि, पूर्णता के विपरीत शून्यता है; परन्तु अपूर्णता पूर्णता के विपरीत नहीं है, विरुद्ध नहीं है,

वह पूर्णता का ही विकास है। गीत जिस समय चल रहा होता है, जिस समय वह सम पर आकर समाप्त नही होता, उस समय वह सम्पूर्ण गीत नही होता परन्तु वह गीत के विपरीत भी नहीं है—उसके अंश-अंश मे उसी सम्पूर्ण गीत का आनन्द तरगित होता है।

ऐसा न होने से रस किस तरह से होता ! रसो वै रस ! वे ही रस स्वरूप हैं। अपूर्ण को प्रतिक्षण ही वे परिपूर्ण कर रहे हैं, इसीलिए तो वे रस हैं। उनके द्वारा सब कुछ भर उठना है, यही रस की आकृति है। यही रस की प्रकृति है। इसीलिए जगत मे प्रकट है आनन्दरूपममृत—यही आनन्द का रूप है, यह आनन्द का अमृतरूप है।

इसीलिए यह अपूर्ण जगत् शून्य नहीं है, मिथ्या नही है। इसीलिए इस ससार मे रूप के भीतर अपरूप है शब्द के भीतर वेदना घ्राण के भीतर व्याकुलता हमे किसी अनिर्वचनीयता मे निमग्न किये दे रही है। इसीलिए आकाश केवलमात्र हम वेष्टित नही करता, वह हमारे हृदय को विस्फारित करता रहता है, आलोक केवल हमारी दृष्टि को सार्थक नही करता, वह हमारे अन्त करण को उद्‌बोधित करता रहता है; और जो कुछ है, वह केवल 'है' मात्र नहीं है, उससे हमारे चित्त को चेतना से, हमारी आत्मा को सत्य से सम्पूर्ण करते हैं।

जब देखता हूँ शीतकाल की पद्मानदी का निस्तरग नीलकान्त जलस्रोत पीताभ बालुकातट की नि स्तब्ध निर्जनता के भीतर निरुद्देश हो जाता है—उस समय क्या यह कहूँ, यह क्या हो रहा है। 'नदी का पानी बह रहा है', यह कहने से ही तो सब कह देना नही हुआ—उसकी आश्चर्यजनक शक्ति और आश्चर्यजनक सौंदर्य के बारे मे क्या कहा जा सका। उस वचन के अतीत परम पदार्थ को, उस अपरूप रूप को, उस ध्वनित सगीत को, यह पानी की धारा किस तरह इतने गभीर भाव से व्यक्त करती है। यह तो केवल मात्र जल और मिट्टी है—मृत्पिण्डो जलरेखया वलयित—परन्तु, जो प्रकट हो उठता है, वह क्या है ? वही आनद-

रूप ममृतम्, यही आनन्द का अमृत रूप है।

फिर कालवैशाखी की प्रचण्ड आँधी में भी इसी नदी को देखा है। बालू ने उड़कर सूर्यास्त की रक्तच्छटा को पाण्डुवर्ण कर दिया है, चाबुक खाए हुए काले घोड़े के मसृण चर्म की भाँति नदी का पानी सह-सहकर काँप-काँप उठा है, पर पार की स्तब्ध तरु-श्रेणी के ऊपरी आकाश में एक निःस्पंद आतङ्क की विवर्णता खिल उठी है, उसके बाद उसी जल-स्थल-आकाश के जाल के बीच अपने ही छिन्न विच्छिन्न बादलों के भीतर जड़ित आवर्तित होकर उन्मत्त आँधी एकदम दिशाहीन होकर आ पड़ी—उस आविर्भाव को देखा है। वह क्या केवल मेघ और हवा, धूल और बालू, पानी एवं रेतीला टीला है? इन सब अकिंचित्कार के भीतर वह एक अपरूप का दर्शन है। यही तो रस है। यह केवल वीणा की लकड़ी और तार नहीं है, यही वीणा का संगीत है। इस संगीत में ही आनन्द का परिचय है यही आनन्दरूपममृतम्।

फिर मनुष्य के भीतर जो देखा है, वह मनुष्य को कितनी दूर ही छोड़ गया है। रहस्य का अन्त नहीं मिलता। शक्ति एवं प्रीति ने कितने लोगों के एवं कितनी जातियों के इतिहास में कितने आश्चर्यजनक आकार धारण करके, कितनी अचिन्त्य घटना और कितने असाध्य-साधन के बीच सीमा के बन्धन को विदीर्ण करके भूमा को प्रत्यक्ष करा दिया है। मनुष्य के भीतर यही आनन्दरूपममृतम् है—

कोई जैसे विश्व-महोत्सव के इस नीलाकाश के महाप्रांगण में अपूर्णता की पत्तल डाल गया है, वहीं पर हम पूर्णता के भोज (ज्यो-नार) में बैठ गए हैं। यही पूर्णता कितने विचित्र रूप में एवं कितने विचित्र स्वाद में क्षण-क्षण पर हम लोगों को अभावनीय और अनिर्व-चनीय चेतना के विस्मय में जाग्रत कर रही है।

ऐसा न होने पर रस स्वरूप रस को देंगे किस तरह। यह रस-अपूर्णता के सुकठोर दुःख को किनारे-किनारे तक भरकर उठाता,

उछालता, गिराता जा रहा है। इस दुख का स्वर्ण-पात्र कठोर होने के कारण ही क्या इसे तोडकर, चूर-चूर करके इतने बडे रस के भोज को व्यर्थ करने की चेष्टा करनी पडेगी ? अथवा परोसने वाली लक्ष्मी को बुलाकर कहेंगे 'हो, हो, कठोर हो, परन्तु इसे भरपूर कर दो, आनन्द से लबालब कर दें ?'

जगत की यह अपूर्णता जिस तरह पूर्णता के विपरीत नही है, परन्तु वह जैसे पूर्णता का ही एक प्रकाश है, उसी तरह इस अपूर्णता का नित्य-सहचर दुख भी आनन्द के विपरीत नही है, वह आनन्द का ही अग है। अर्थात्, दुख की परिपूर्णता और सार्थकता दु.ख ही नहीं है, वह आनन्द है। दुख भी आनन्दरूपममृतम् है।

यह बात किस तरह कहूँ ? इसको सम्पूर्ण रूप से प्रमाणित ही किस तरह करूगा ?

परन्तु अमावस्या के अन्धकार मे अनन्त ज्योतिष्कलोक को जिस तरह प्रकट कर देती है, उसी तरह दुख की निविडतम रात्रि के बीच अवतीर्ण होकर आत्मा क्या किसी भी दिन आनन्दलोक की ध्रुवदीप्ति को नही देख पाती—हठात् क्या कभी भी बोल नही उठती, समझ गई, दुख के रहस्य को समझ गई, अब कभी भी सन्देह नही करूँगी ?' परम दुख का अन्तिम किनारा जहाँ जाकर मिल गया है, वहाँ क्या हम लोगो का हृदय किसी शुभमुहूर्त मे दृष्टि गडा कर नही देखता ? अमृत और मृत्यु, आनन्द और दुख उस जगह क्या एक नही हो जाते ? उसी ओर देखकर ही क्या ऋषि ने नहीं कहा है—

'यस्यच्छायामृत यस्य मृत्यु कस्मै देवाय हविषा विधेम।'

अमृत जिनकी छाया है और मृत्यु भी जिनकी छाया है, उनके अतिरिक्त अन्य किस देवता की पूजा करूँ ?

यह क्या तर्क का विषय है ? यह क्या हमारी उपलब्धि का विषय नही है ? सभी मनुष्यों के हृदय के भीतर यही उपलब्धि गभीर

भाव से है, इसीलिए मनुष्य दु ख की ही पूजा करता आ रहा है, आराम की नहीं। ससार के इतिहास मे मनुष्य के परम पूज्यगण दुख के ही अवतार हैं, आराम मे पले हुए लक्ष्मी के क्रीतदास नहीं हैं।

अतएव दु ख को हम दुर्बलतावश खर्व नहीं करेंगे, अस्वीकार नही करेंगे, दुख के द्वारा ही आनन्द को हम लोग बडे रूप मे एव मङ्गल को हम लोग सत्य रूप मे जानेंगे।

यह बात हम लोगो को याद रखनी होगी, अपूर्णता का गौरव ही दु ख है, दुख ही इस अपूणता की सम्पत्ति है, दु ख ही उसका एक मात्र मूलधन है। मनुष्य जो कुछ भी सत्य-पदार्थ पाता है, वह दु ख के द्वारा ही पाता है इसीलिए उसका मनुष्यत्व है। उसकी क्षमता अल्प अवश्य है। परन्तु ईश्वर ने उसे भिक्षुक नहीं बनाया है। वह केवल चाह कर ही कुछ नहीं पाता, दु खी होकर ही पाता है। और जो कुछ धन है वह तो उसका नहीं है, वह सब तो विश्वेश्वर का है, परन्तु दु ख ही उसका नितान्त अपना है। उस दुख के ऐश्वर्य मे ही अपूर्व जीव ने पूर्णस्वरूप के साथ अपने गर्व के सम्बन्ध की रक्षा की है, उसे लज्जा नहीं उठानी पडी है। साधना के द्वारा हम ईश्वर को पाते हैं, तपस्या के द्वारा हम ब्रह्म का लाभ करते हैं—उसका अर्थ ही यह है, ईश्वर के भीतर जिस तरह पूर्णता है, हमारे भीतर भी उसी तरह पूर्णता का मूल्य है, वही दु ख है, वह दु ख ही साधना है, वह दु ख ही तपस्या है; उस दुख का ही परिणाम आनन्द है, मुक्ति है ईश्वर है।

हम लोगों की ओर स यदि ईश्वर को कुछ देना पडे तो क्या देंगे, क्या दे सकते हैं ? उन्हीं का धन उन्ही को देकर तो तृप्ति नहीं है-हमारा एक मात्र जो अपना धन दु ख-धन है, वही उन्हें समर्पित करना होगा। इस दुख को ही वे आनन्द देकर, वे स्वय को देकर पूर्ण कर देंगे—अन्यथा वे आनन्द को डालेंगे किस जगह ! हमारा यह अपने घर का पात्र न रहने पर , अपने अमृत को वे दान किस तरह से करते !

इस बात को ही हम गौरव के साथ कह सकते है। दान मे ही ऐश्वर्य की पूर्णता है। हे भगवान आनन्द को दान करने की, बरसाने की, प्रवाहित करने की यह जो तुम्हारी शक्ति है, यह तुम्हारी पूर्णता की ही अङ्ग है। आनन्द स्वय मे बँध कर सम्पूर्ण नहीं होता, आनन्द स्वय का त्याग करके ही सार्थक है—तुम्हारी वही स्वय को दान करने की परिपूर्णता को हमी लोग वहन करते हैं अपने दुख के द्वारा वहन करते हैं यही हम लोगों का बडा अभिमान है, यही पर तुम्हारा हमारा मिलन है, यही पर तुम्हारे ऐश्वर्य का हमारे ऐश्वर्य से योग है, यही पर तुम हम से अतीत नही हो, यही पर तुम हमारे भीतर उतर आये हो, तुम अपने अगणित ग्रह सूर्य नक्षत्र खचित महासिंहासन से हमारे इस दुख के जीवन मे अपनी लीला को सम्पूर्ण करने आये हो। हे राजा, तुम हमारे दुख के राजा हो, हठात् जिस समय आधीरात मे तुम्हारे रथ-चक्र की वज्र गर्जन से पृथ्वी बलि-पशु के हृत्पिण्ड की भाँति काँप उठती है, उस समय जीवन मे तुम्हारे उस प्रचण्ड आविर्भाव के महाक्षण मे तुम्हारी जयध्वनि कर सकें, हे दुख के धन, तुम्हे नही चाहते, ऐसी बात उस दिन भयभीत होकर न कह डालें—उस दिन जैसे दरवाजा तोडकर तुम्हे घर मे प्रवेश न करना पडे, जैसे सब कुछ जाग्रत् होकर, सिंहद्वार को खोल कर तुम्हारे उद्दीप्त ललाट की ओर दोनो आँखें उठाकर कह सकें, 'हे दारुण, तुम ही हमारे प्रिय हो।'

हम लोग दुख के विरुद्ध विद्रोह करके अनेक बार कहने की चेष्टा करते रहते हैं कि, हम लोग सुख-दुख को समान रूप मे अनुभव करेंगे। किसी उपाय से चित्त को चेतना-शून्य बनाकर व्यक्ति विशेष के पक्ष मे उस तरह उदासीन हो जाना शायद असम्भव नहीं हो सकता। परन्तु सुख-दुख तो केवल अपना ही नही है, वह तो ससार के सभी जीवों के साथ जुडा हुआ है। मेरे दुख-बोध के चले जाने से ही तो ससार से दुख दूर नहीं हो जायगा।

अतएव केवल मात्र अपने भीतर नहीं, दुःख को उसकी उसी विराट रंगभूमि के बीच देखना होगा, जहाँ पर वह अपनी वह्नि के ताप से, वज्र के आघात से, कितनी जातियाँ, कितने राज्य, कितने समाजो का निर्माण कर रहा है; जहाँ पर वह मानव की जिज्ञासा को दुर्गम-पथ पर दौड़ा रहा है; मनुष्य की इच्छा को दुर्भेद्य बाधा के भीतर से उद्भिन्न कर रहा है एवं मनुष्य की चेष्टा को किसी क्षुद्र सफलता के भीतर समाप्त नहीं होने दे रहा है, जहाँ पर युद्ध विग्रह, दुर्भिक्ष-महामारी, अन्याय-अत्याचार उसके सहायक हैं, जहाँ पर रक्त-सरोवर के भीतर से वह शुभ्र शान्ति को विकसित कर रहा है, दारिद्रय के निष्ठुर ताप के द्वारा शोषण करके वर्षा के मेघ की रचना कर रहा है एवं जिस जगह हलधर (किसान) मूर्ति में सुतीक्ष्ण हल चला कर वह मानव-हृदय को बारम्बार शत-शत रेखाओ मे दीर्ण-विदीर्ण करके ही उसे फलवान (फलयुक्त) बना रहा है। वहाँ पर उस दुःख के हाथ से परित्राण को परित्राण नही कहा जाता—वह परित्राण ही मृत्यु है—वहाँ पर स्वेच्छा से अजलि की रचना करके जिसने उसे पहला अर्घ्य नही दिया, वह स्वयं ही विडम्बित हुआ है।

मनुष्य का यह जो दुःख है, वह केवल कोमल अश्रु-वाष्प से आच्छन्न नहीं है, वह रुद्र तेज से उद्दीप्त है। विश्व जगत मे 'तेजः' पदार्थ जिस तरह है, मनुष्य के चित्त में दुःख भी उसी तरह है; वही आलोक, वही ताप, वही गति, वही प्राण; वही चक्रपथ पर घूमते हुए मानव समाज मे नये-नये कर्मलोक और सौंदर्यलोक की सृष्टि कर रहा है; इस दुःख के ताप ने कहीं प्रकट होकर, कहीं प्रच्छन्न रह कर, मानव-संसार के समस्त वायु प्रवाहों को प्रवहमान कर रक्खा है।

मनुष्य के इस दुःख को हम क्षुद्र रूप मे अथवा दुर्बलभाव मे नहीं देखेंगे। हम छाती चौड़ी करके एवं मस्तक को ऊंचा उठाकर

ही इसे स्वीकार करेंगे। इस दुःख की शक्ति द्वारा स्वयं को भस्म नहीं करेंगे, स्वयं को कठोर बना लेंगे। दुःख के द्वारा स्वयं को ऊपर न उठाकर, स्वयं को अभिभूत करके अतल मे पहुँचा देना ही दुःख का असम्मान करना है—जिसे यथार्थभाव से वहन कर पाने मे ही जीवन सार्थक होता है, उसके द्वारा आत्महत्या का साधन करने को बैठ जाने पर दुःखदेवता के समीप अपराधी बनना पडता है। दुःख के द्वारा आत्मा की अवज्ञा न करें, दुःख के द्वारा ही जैसे आत्मा का सम्मान उपलब्ध कर सकें। दुःख के अतिरिक्त उस सम्मान को समझने का और कोई मार्ग ही नहीं है।

कारण, पहले ही आभास दे दिया है, दुःख ही संसार मे एकमात्र सभी पदार्थों का मूल्य है। मनुष्य ने जो कुछ निर्माण किया है, वह उसका पूर्णरूप से अपना नहीं होता।

इसीलिए त्याग के द्वारा, दान के द्वारा तपस्या के द्वारा, दुःख के द्वारा ही हम अपनी आत्मा को गभीररूप में प्राप्त करते हैं—सुख के द्वारा, आराम के द्वारा नहीं। दुःख के अतिरिक्त और किसी उपाय से अपनी शक्ति को हम नहीं जान पाते। और अपनी शक्ति को जितना ही कम करके जानते हैं आत्मा के गौरव को भी उतना ही कम करके समझते हैं, यथार्थ आनन्द भी उतना ही अगंभीर बना रहता है।

रामायण मे कवि ने राम को, सीता को, लक्ष्मण को, भरत को, दुःख के द्वारा ही महिमान्वित बनाया है। रामायण के काव्य-रस मे मनुष्य ने जो आनन्द की मङ्गलमय मूर्ति देखी है, दुःख ही उसे धारण किए हुए है। महाभारत भी उसी तरह की है। मनुष्य के इतिहास में जितना वीरत्व, जितना महत्व है, सभी दुःख के आसन पर प्रतिष्ठित है। मातृ-स्नेह का मूल्य दुःख मे है, पातिव्रत का मूल्य दुःख मे है, वीर्य का मूल्य दुःख मे है, पुण्य का मूल्य दुःख मे है।

इस मूल्य को ईश्वर यदि मनुष्य के निकट से हरण कर ले जाएँ, यदि उसे अविमिश्र सुख और आराम के भीतर पालते रहें तभी हमारी अपूर्णता यथार्थ में लज्जादायक होगी, उसकी मर्यादा एकदम चली जायगी। वैसा होने पर किसी को भी फिर अपना अर्जित नहीं कहा जा सकेगा, सब कुछ दान की सामग्री बन जायगी। आज ईश्वर की फसल को खेती के दुःख के द्वारा हम लोग अपना बना रहे हैं ईश्वर की अग्नि को घर्षण के दुःख के द्वारा अपना बना रहे हैं। ईश्वर हमारी अत्यन्त आवश्यकता की वस्तु को भी सहज ही देकर हमारा असम्मान नहीं करते, ईश्वर के दान को भी विशेषरूप से अपना बना लेने के बाद ही उसे प्राप्त करते हैं, अन्यथा उसे पाते ही नहीं हैं। उस दुःख को उठा लेने पर जगत्-संसार में हमारा सम्पूर्ण अधिकार ही चला जाता है, हमारी अपनी कोई दलील नहीं रहती, हम लोग केवल दाता के घर में निवास करते हैं, अपने घर में नहीं। परन्तु वही यथार्थ अभाव है, मनुष्य के पक्ष में दुःख के अभाव जैसा इतना बड़ा अभाव और कुछ हो ही नहीं सकता।

उपनिषद् ने कहा है—

'स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा सर्वमसृजत यदिदं किञ्च।'

उन्होंने तप किया, उन्होंने तप करके यह जो कुछ है, उस सब की सृष्टि की।

वह उनका तप ही दुःख रूप से संसार में विराज रहा है। हम लोग भीतर बाहर जिस किसी वस्तु की सृष्टि करने जाते हैं, वह सभी तप करके ही करनी पड़ती है—हमारा समस्त जन्म ही वेदना के बीच से है, समस्त लाभ ही त्याग के पथ पर चल कर है, समस्त अमृतत्व ही मृत्यु के सोपान का अतिक्रम करके है। ईश्वर की सृष्टि की तपस्या को हम लोग इसी तरह से वहन कर रहे हैं।

उन्हीं के तप का ताप नये नये रूप मे, मनुष्य के हृदय मे नये-नये प्रकाश को उन्मेषित कर रहा है।

वह तपस्या ही आनन्द का अंग है। इसीलिए दूसरी ओर से कहा गया है—

'आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।'

आनन्द से ही यह सब भूत (प्राणी) उत्पन्न हुए हैं। आनन्द के अतिरिक्त सृष्टि के इतने बडे दुःख को वहन कौन करेगा।

'कोह्येवान्यात् क प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।'

कृषक खेती करके जिस फसल को उत्पन्न करता है, उस फसल मे उसकी तपस्या जितनी बड़ी होती है, उसका आनन्द भी उतना ही है। सम्राट् की साम्राज्य-रचना बड़ा दुख एव बड़ा आनन्द है, देशभक्त द्वारा देश का प्राण देकर निर्माण करना परम दुख एव परम आनन्द है – ज्ञानी का ज्ञान लाभ एव प्रेमी की प्रिय–साधना भी वही है।

ईसाई शास्त्र मे कहा गया है, ईश्वर ने मानव-गृह मे जन्म ग्रहण करके वेदना का भार वहन किया और दुख के कण्टक-किरीट को मस्तक पर पहना था। मनुष्य के सब तरह के परिमाण का एकमात्र मूल्य ही वही दुख है। मनुष्य की नितान्त अपनी सामग्री जो दुख है। प्रेम के द्वारा उसे ईश्वर भी अपनी बना कर इस दुख-सगम मे मनुष्य के साथ मिले हैं, दुःख की अपरिसीम मुक्ति से और आनन्द से उत्तीर्ण कर दिया है—यही ईसाई धर्म की मर्म कथा है।

हमारे देश मे भी किसी सम्प्रदाय के साधकों ने ईश्वर को दुःख दारुण-भीषण मूर्ति के मध्य 'माँ' कह कर पुकारा है। उस मूर्ति को

बाहर से कहीं भी उन्होंने मधुर और कोमल, शोभन और सुखकर बनाने की लेशमात्र चेष्टा नहीं की है। महारूप को ही वे लोग 'जननी' कह कर अनुभव करते हैं। इस संहार की विभीषिका के भीतर ही वे लोग शक्ति और शिव के सम्मिलन को प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) करने की साधना करते हैं।

शक्ति से और भक्ति से जो लोग दुर्बल हैं, वे लोग ही केवल सुख-स्वतन्त्रता शोभा-सम्पत्ति के भीतर ही ईश्वर के आविर्भाव को सत्य के रूप में अनुभव करना चाहते हैं। वे लोग कहते हैं, धन-मान ही ईश्वर का प्रसाद है। सौन्दर्य ही ईश्वर की मूर्ति है, सासारिक-सुख की सफलता ही ईश्वर का आशीर्वाद है और वही पुण्य का पुरस्कार है। ईश्वर की दया को वे लोग बहुत ही सकरुण बहुत ही कोमलकान्त रूप में देखते हैं। इसीलिए ये सब दुर्बल चित्त सुख के पुजारीगण ईश्वर की दया को अपने लोभ मोह और भीरुता की सहायक कह कर क्षुद्र और खण्डित के रूप में जानते हैं।

परन्तु हे भीषण, तुम्हारी दया को, तुम्हारे आनन्द को कहाँ सीमाबद्ध करूँ? केवल सुख में केवल सम्पत्ति में, केवल जीवन में, केवल निरापद निरातङ्कता में? दुःख, विपत्ति, मृत्यु और भय को तुमसे पृथक करके इन्हें तुम्हारे विरुद्ध खड़े करना जानना होगा? ऐसा नहीं है। हे पिता, तुम्हीं दुःख हो, तुम्हीं विपत्ति हो। हे माता, तुम्हीं मृत्यु हो, तुम्हीं भय हो, तुम्हीं—

'भयानां भयं भीषणं भीषणानां।'

तुम्हीं—

'लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात् लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो।'

समग्र लोक को अपने प्रज्ज्वलित-मुख के द्वारा ग्रास करते करते लेहन कर रहे हो। समस्तजगत् को तेज के द्वारा परिपूर्ण करके,

हे विष्णु, तुम्हारी उग्र ज्योति प्रतप्त हो रही है।

हे रुद्र, तुम्हारे ही दुःख रूप, तुम्हारे ही मृत्यु रूप को देखकर हम दुःख और मृत्यु के मोह से निष्कृति पाकर तुम्ही को प्राप्त करें। अन्यथा डरते-डरते तुम्हारे विश्व जगत मे कापुरुष की भाँति सकुचित होकर घूमना पड़ेगा—सत्य के निकट निःसंशयता से स्वयं का सम्पूर्ण समर्पण नही कर पाते हैं। उस समय दयामय कह कर भयभीत हो तुम्हारे निकट दया चाहते हैं, तुम्हारे पास तुम्हारे विरुद्ध अभियोग लाते हैं, तुम्हारे हाथ से अपनी रक्षा करने के लिए तुम्हारे समीप करुण क्रदन करते हैं।

परन्तु हे प्रचण्ड, मैं तुम से उसी शक्ति की माँग करता हूँ, जिससे तुम्हारी दया को दुर्बलभाव से अपने आराम के लिए, अपनी क्षुद्रता के लिए उपयोगी बनाने की कल्पना न करूँ—तुम्हे असम्पूर्ण रूप मे ग्रहण करके स्वयं को प्रवचित न करूँ। कम्पित हृत्पिण्ड लेकर अश्रु सिक्त नत्रो से तुम्हें दयामय कह कर स्वयं को भुलावे मे नही डालूँगा, तुम जो मनुष्य का युग युग से असत्य से सत्य मे अन्धकार से ज्योति मे, मृत्यु से अमृत मे उद्धार कर रहे हो, वह उद्धार का पथ आराम का पथ नही है, वह तो परम दुःख का पथ ही है। मनुष्य की अन्तरात्मा प्रार्थना कर रही है—

आविरावीम एधि।'

हे आवि, तुम मेरे निकट आविर्भूत होओ।

हे प्रकाश, तुम मेरे समीप प्रकाशित होओ—यह प्रकाश तो सहज नही है। यह तो प्राणान्तिक प्रकाश है। असत्य स्वयं को दग्ध करके ही सत्य मे उज्ज्वल हो उठता है, अन्धकार स्वयं को विसर्जित करके ही ज्योति से परिपूर्ण हो उठता है एव मृत्यु स्वयं को विदीर्ण करके ही अमृत म उद्भिन्न हो उठती है। हे आवि, मनुष्य के ज्ञान मे, मनुष्य के कर्म मे, मनुष्य के समाज मे तुम्हारा आविर्भाव इसी रूप में

है। इसी कारण ऋषि तुम्हें करुणामय कहकर व्यर्थ सम्बोधन नहीं करते। उन्होंने कहा है,—

'रुद्र यत्ते दक्षिण मुखं तेन मां पाहि नित्यम्।'

हे रुद्र, तुम्हारा जो प्रसन्न मुख है, उसके द्वारा मेरी सर्वदा रक्षा करो।

हे रुद्र, तुम्हारी वह जो रक्षा है, वह भय से रक्षा नहीं है। विपत्ति से रक्षा नहीं है, मृत्यु से रक्षा नहीं है, वह जड़ता से रक्षा है, व्यर्थता से रक्षा है, तुम्हारे अप्रकाश से रक्षा है। हे रुद्र, तुम्हारा प्रसन्न मुख कब देखूँगा? जब हम धन के विलास में लालित, मान के मद में मत्त, ख्याति के अहंकार में आत्मविस्मृत होंगे, जब हम निरापद अकर्मण्यता के बीच सुखसुप्त होंगे, उस समय? नहीं, नहीं, कदापि नहीं। जब हम अज्ञान के विरोध में, अन्याय के विरोध में खड़े होंगे। जब हम भय से, चिन्ता से सत्य को लेशमात्र भी अस्वीकार नहीं करेंगे, जब हम दुरूह और अप्रिय कर्म को भी ग्रहण करने में कुण्ठित नहीं होंगे, जब हम किसी भी सुविधा, किसी भी शासन को तुम से बड़े रूप में मान्य नहीं करेंगे—तभी दुःख में, बन्धन में, आघात में, अपमान में, दारिद्र्य में, दुर्योग में, हे रुद्र, तुम्हारे प्रसन्न मुख की ज्योति जीवन को महिमान्वित करदे। उस समय दुःख और मृत्यु, विघ्न और विपत्ति प्रबल संघात के द्वारा तुम्हारी प्रचण्ड आनन्दभेरी को ध्वनित करके हमारे सम्पूर्ण चित्त को जाग्रत कर दे। अन्यथा सुख में हमारे लिए सुख नहीं है, धन में हमारे लिए मङ्गल नहीं है, आलस्य में हमारे लिए विश्राम नहीं है। हे भयङ्कर, हे प्रलयङ्कर, हे शङ्कर हे मयस्कर, हे पिता, हे बन्धु, अन्तःकरण की समस्त जाग्रत शक्ति के द्वारा, उद्यत चेष्टा के द्वारा, अपराजित चित्त के द्वारा तुम्हें भय में, दुःख में, मृत्यु में सम्पूर्णभाव से ग्रहण करें—किसी तरह भी कुण्ठित, अभिभूत न हों—यही क्षमता हमारे भीतर उत्तरोत्तर विकास प्राप्त

करती रहे, यही आशीर्वाद दो। जगाओ, हे जगाओ—जो व्यक्ति और जो जाति अपनी शक्ति और धन सम्पत्ति को ही संसार के सब की अपेक्षा श्रेय मान कर अन्ध हो उठी है, उसे प्रलय के बीच जब एक क्षण मे जगा दोगे तब हे रुद्र, उस उद्धत ऐश्वर्य की विदीर्ण प्राचीर को भेद कर तुम्हारी जो ज्योति विकीर्ण होगी, उसे हम लोग सौभाग्य के रूप मे जान सकें, एव जो व्यक्ति और जो जाति अपनी शक्ति और सम्पत्ति पर एकदम अविश्वास करके, जड़ता, दैन्य और अपमान के भीतर निर्जीव बेहोश बनी पड़ी है, उसे जब दुर्भिक्ष और महामारी और प्रबल के अविचारपूर्ण आघात के बाद आघात से अस्थि-मज्जा को कम्पान्वित कर देंगे। उस समय तुम्हारे उस दुःसह, दुर्दिन को हम लोग समस्त जीवन समर्पित करके सम्मानित करें और तुम्हारे उस भीषण आविर्भाव के सम्मुख खड़े होकर बोल सकें—

'आविरावीर्म एधि। रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्।'

दारिद्रय भिक्षुक न बना कर हम लोगों को दुर्गम पथ का पथिक बनाये एवं दुर्भिक्ष और महामारी हमलोगों को मृत्यु के भीतर निमज्जित न करके, सचेष्टतर जीवन की ओर आकर्षित करे। दुःख हमलोगों की शक्ति का कारण बने एवं लोकभय, राजभय और मृत्यु-भय हम लोगों को जय का कारण बने। विपत्ति की कठोर परीक्षा में अपने मनुष्यत्व को सम्पूर्णरूप से प्रमाणित करने पर ही, हे रुद्र, तुम्हारा दक्षिण मुख हमारा परित्राण करेगा; अन्यथा अशक्त के प्रति अनुग्रह, आलसी के प्रति प्रश्रय, भीरु के प्रति दया वह कभी भी नहीं करेगा। कारण, उस दया मे ही दुर्गति है, उस दया में ही अवमानना है, एवं हे महाराज, वह दया तुम्हारी दया नहीं है।

नया वर्ष*

वर्तमान म हमारे समीप कर्म का गौरव अत्यन्त अधिक है। हाथ के समीप हो दूर हो, दिन म हो दिन की समाप्ति में हो, कर्म करना ही होगा। क्या कर, किस तरह करें, कहां करना होगा कहाँ आत्म विसजन करना होगा इसी को हम अशान्तचित्त स खोज रहे हैं। यूरोप म लगाम पहिने हुए की हालत म मरना एक गौरव की बात है। काम, अ-काम, अकारण काम, जिस उपाय से भी हो, जीवन के अन्तिम निमष-पात तक भाग दौड़ करके, उछलकूद करके मरना होगा ! यह कर्म नागर दोला का चकार नशा जिस समय किसी किसी जाति को पकड़ बैठता है, उस समय पृथ्वी पर फिर शान्ति नहीं रहती। उस समय, दुगम हिमालय शिखर पर जो लोमश छाग अब तक निरुद्वेग जीवन वहन करता आ रहा होता है, उसे अकस्मात् शिकारी की गोली से प्राण त्याग करना होता है। विश्वस्तचित्त सील एव पेंगुइन पक्षी अब तक जन शून्य भूमि के मरुस्थल के बीच निर्विरोध प्राणधारण करने का जो सुख भोग करत आ रहे होते हैं, अकलङ्क शुभ्र नीहार अचानक ही उन निरीह प्राणियों के रक्त से रजित हो उठता है। कहीं से वणिकों की तोपें शिल्प निपुण प्राचीन चीन के कंठ के भीतर अहिफेन (अफीम) के पिंड की वर्षा करती रहती है एव अफ्रीका का निभृत अरण्य-समाच्छन्न कृष्णत्व सभ्यता के वज्र से विदीर्ण होकर आतस्वर म प्राणत्याग उठता है।

*बोलपुर के शान्ति निकेतन आश्रम में पठित

यहाँ पर आश्रम मे प्रकृति के बीच स्तब्ध होकर बैठने पर हृदय के भीतर स्पष्ट उपलब्धि होती है कि होना ही जगत का चरम आदर्श है, करना नही। प्रकृति मे कर्म की सीमा नही है, परन्तु उस कर्म को अन्तराल मे रख कर यह स्वय को होने के भीतर प्रकट करता है। प्रकृति के मुँह की ओर जभी देखता हूँ, दीख पडता है वह अक्लिष्ट है, अक्लान्त है, उसने जैसे किसी के निमत्रण पर तय्यारियाँ करके विस्तीर्ण नीलाकाश मे आराम से आसन ग्रहण किया है। इस निखिल-गृहिणी के रसोई गृह कहाँ है, ढेंकी का घर कहाँ है, किस भडार के स्तर-स्तर मे इसके विचित्र आकार के बर्तन सजे हुए रक्खे हैं? इसके दाहिने हाथ की हथकडियाँ *भ्रम के कारण आभूषण सी लगती हैं,* इसके काम लीला जैसे जान पडते हैं, इसकी चाल नृत्य जैसी एव चेष्टा उदासीनता जैसी लगती है। घूण्यमान चक्रों को नीचे गुप्त रखकर, स्थिति को ही गति के ऊपर रख कर, प्रकृति ने स्वय को हर समय प्रकाशित कर रक्खा है, ऊर्ध्वश्वास ने कर्म के वेग मे स्वय को *अस्पष्ट एव सचीयमान कर्म के स्तूप मे* स्वय को आच्छन्न नही किया है।

इस कर्म के चारो ओर अवकाश, इस चाँचल्य को ध्रुव शान्ति के द्वारा मण्डित किए हुए है—प्रकृति की चिर नवीनता का यही रहस्य है। केवल नवीनता नहीं, यही उसका बल है।

भारतवर्ष ने अपने तप्तताम्र आकाश के द्वारा अपने शुष्क धूसर प्रान्तर के द्वारा, अपने ज्वलज्जटामण्डित विराट मध्याह्न के द्वारा, अपनी निकषकृष्ण निःशब्द रात्रि के द्वारा ही इस उदार शान्ति, इस विशाल स्तब्धता को अपने अन्त करण के भीतर प्राप्त किया है। भारतवर्ष कर्म का क्रीतदास नहीं है।

सब जातियों का स्वभावगत आदर्श एक नही होता, उसकी वजह से क्षोभ करने की आवश्यकता नहीं दीखती। भारतवर्ष मनुष्य का

लघन करके कर्म को बड़ा नहीं बना देता। फल की आकांक्षा से हीन कर्म को माहात्म्य देकर उसने वस्तुतः कर्म को संयत कर लिया है। फल की आकांक्षा को उखाड़ फेंकना कर्म के विष दन्त को तोड़ फेंकना है। इस उपाय से मनुष्य कर्म के ऊपर भी स्वयं को जाग्रत करने का अवकाश पा लेता है। होना ही हमारे देश का चरम लक्ष्य है, करना उपलक्ष्य मात्र है।

विदेश के संघात से भारतवर्ष की यह प्राचीन स्तब्धता क्षुब्ध होगई है। उससे हमारी बल वृद्धि हो रही है, इस बात को मैं नहीं मानता। इससे हमारी शक्ति क्षय हो रही है। इससे प्रतिदिन हमारी निष्ठा विचलित, हमारा चरित्र भग्न विकीर्ण, हमारा चित्त विक्षिप्त एवं हमारी चेष्टा व्यर्थ हो रही है। पहले भारतवर्ष की कार्य प्रणाली अति सहज सरल, अति प्रशान्त, अथच अत्यन्त दृढ़ थी। उसमें आडम्बर का एकदम अभाव था, उसमें शक्ति का अनावश्यक अपव्यय नहीं था, सती स्त्री अनायास ही पति की चिता पर आरोहण करती थी, सैनिक-सिपाही अकातरभाव से चने चबाकर युद्ध करने को जाते थे, आचार रक्षा के लिए सब असुविधाओं को वहन करना, समाज रक्षा के लिए चूडान्त दुःख का भोग करना एवं धर्म रक्षा के लिए प्राणों को विसर्जित करना, उस समय अत्यन्त सरल था। निस्तब्धता की यह भीषण शक्ति भारतवर्ष के भीतर अभी तक संचित बनी हुई है; हम लोग स्वयं ही इसे नहीं जानते। दारिद्र्य का जो कठिन बल, मौन का जो स्तम्भित आवेग, निष्ठा की जो कठोर शान्ति एवं वैराग्य का जो उदार गाम्भीर्य है, उसे हम कुछ आदमी शिक्षा-चंचल-युवक विलास अविश्वास, अनाचार, अनुकरण के द्वारा अभी तक भारतवर्ष से दूर नहीं कर पाये हैं। संयम के द्वारा, विश्वास के द्वारा, ध्यान के द्वारा, इस मृत्यु-भय-हीन आत्मसमाहित शक्ति ने भारतवर्ष की मुखश्री पर मृदुता एवं मज्जा के भीतर कठिनता, लोक-व्यवहार में कोमलता एवं स्वधर्म-रक्षा में दृढ़ता प्रदान की है। शान्ति की मर्मगत इस विपुलशक्ति को

अनुभव करना होगा, स्तब्धता की आधारभूत इस प्रकाण्ड कठोरता को जानना होगा । बहुत सी दुर्गतियो के बीच बहुत सी शताब्दियो मे भारतवर्ष की अन्तर्निहित इस स्थिर-शक्ति ने ही हमलोगो की रक्षा की है, एव समय-समय पर यह दीन-हीन वेषी, भूषणहीन, वाक्यहीन, निष्ठाद्रढिष्ठ शक्ति ही जाग्रत होकर समस्त भारतवर्ष के ऊपर अपने आशीर्वादात्मक हाथ को प्रसारित करेगी; अँग्रेजी वस्त्र अँग्रेजी दूकानो की वस्तुएँ, अँग्रेजी मास्टरो की वाक्-भङ्गिमा की अविकल नकल, कही भी नही रहेगी, किसी काम ही नहीं आएगी। हमलोग आज जिसे अवज्ञा करके नही देखना चाहते, जान नही पाते, अँग्रेजी-स्कूल के वातायन में बैठकर जिसके सज्जा-हीन आभास मात्र के दृष्टि मे पडते ही हमलोग लाल (क्रुद्ध) होकर मुँह फेर लेते हैं, वही सनातन वृहत् भारतवर्ष है, वह हमारे भाषणकर्ताओ के विलायती शामियानो वाली सभाओं मे नाचता हुआ नही घूमता, वह हमारे नदी-तट पर तेजधूप से विकीर्ण विस्तीर्ण धूसर प्रान्तर मे कौपीन वस्त्र पहिन कर, तृणासन पर एकाकी मौन बैठा हुआ है। वह भीषणबलिष्ठ है, वह दारुण सहिष्णु है, उपवासव्रतधारी है; उसके कृश पजर के अभ्यन्तर मे, प्राचीन तपोवन की अमृत अशोक, अभय होमाग्नि अब भी जल रही है और, वर्तमानकाल के बडे आडम्बर को फैलाए हुए ताली बजाये जाने वाले मिथ्या वाक्य, जो हमारे स्वरचित है, जिन्हें सम्पूर्ण भारतवर्ष के भीतर हमलोग एकमात्र सत्य एव एकमात्र वृहत् के रूप मे अनुभव करते हैं, जो मुखर हैं, जो चचल हैं, जो उद्वेलित पश्चिमी समुद्र की उद्‌गीर्ण फेनराशि हैं—वे यदि कभी आँधी के आने पर दशो दिशाओ में उडकर अदृश्य हो जाएँगे; उस समय हम देखेंगे, इस अविचलित शक्ति सन्यासी के दीप्त नेत्र दुर्योग के बीच भी जल रहे हैं, उसके पीले जटाजूट झंझावाता मे काँप रहे हैं, जब आँधी की गर्जन मे अति विशुद्ध उच्चारणशाली अँग्रेजी की वक्तृता और सुनाई नहीं देगी, उस समय इस सन्यासी की कठिन दक्षिण बाहु के लौह-वलय के

साथ उसके लौहदण्ड की घर्षण-झंकार समस्त मेघ मन्द्र के ऊपर शब्दित हो उठेगी। इस सगीहीन निभृतवासी भारतवर्ष को हम-लोग जानेंगे, जो स्तब्ध है उसकी उपेक्षा नही करेंगे, जो मौन है, उस पर अविश्वास नहीं करेंगे, जो विदेश की विपुल विलास-सामग्री को भ्रू-निक्षेप द्वारा अवज्ञा करता है, उसे दरिद्र कहकर उपेक्षा नही करेंगे, हाथ जोड कर उसके सामने आ बैठेंगे, एव चुपचाप उसकी पदधूलि को मस्तक पर रख कर, स्तब्धभाव से घर मे आकर विचार करेंगे।

आज नये वर्ष म इस शून्य-प्रांतर के बीच भारतवर्ष के दूसरे भाव को हम हृदय के भीतर ग्रहण करेंगे। वह भारतवर्ष का एकाकित्व है। इस एकाकित्व का अधिकार बड़ा अधिकार है। इस उपार्जन करना पड़ता है। इसे प्राप्त करना रक्षा करना दुरुह है। पितामहगण यह एकाकित्व भारतवर्ष को दान कर गए हैं। महाभारत, रामायण की भाँति यह हमारी राष्ट्रीय सम्पत्ति है।

सभी देशो मे किसी अपरिचित विदेशी पथिक के अपूर्व वेश-भूषा मे आ उपस्थित होने पर स्थानीय लोग कौतूहल से जैसे उन्मत्त हो उठते हैं—उसे घेर कर, उससे प्रश्न करके, आघात करके, सन्देह करके, विव्रत (विस्तृत) बना देते है। भारतवासी बडे सहज रूप मे उस पर दृष्टि डालता है, उसके द्वारा आहत नही होता एव उस पर आघात नहीं करता। चीनी परिव्राजक फाहियान, ह्वेनसांग जिस तरह अनायास ही आत्मीय की तरह भारत का परिभ्रमण कर गये थे, यूरोप मे कभी भी उस तरह नहीं कर पाते। धर्म की एकता बाहर परिदृश्यमान नहीं होती, जहाँ पर भाषा, आकृति, वेश भूषा सभी स्वतन्त्र (अलग) हों, वहाँ कौतूहल के निष्ठुर आक्रमण वा पग पग पर अतिक्रमण करके चलना असाध्य है। परन्तु भारतवर्षीय एकाकी आत्मसमाहित है, वह अपने चारों ओर एक चिरस्थायी निर्जनता को वहन करता हुआ चलता है,

इसीलिए कोई उस पर एकदम शरीर के ऊपर नही आ गिरता। अपरिचित विदेशी उसकी बगल मे होकर निकल जाने के लिए यथेष्ट स्थान पा लेता है। जो लोग सदैव ही भीड करके, झुड बाँध कर, रास्ते को घेर कर बैठे रहते हैं, उन पर आघात न करके एव उनके पास से आघात न पाकर नये आदमी के चलने की सम्भावना नही है। उन्हे सब प्रश्नो का उत्तर देकर, सब परीक्षाओ मे उत्तीर्ण होकर, तभी एक पाँव आगे बढना पडता है। परन्तु भारतवर्षीय जहाँ पर रहता है, वहाँ किसी बाधा की रचना नही करता, उसे स्थान की खीचतान नही रहती, उसके एकाकित्व के अवकाश को कोई छीन कर नही ले पाता। ग्रीक हो, अरब हो, चीनी हो, वह जङ्गल की तरह किसी को अटकाता नहीं, वनस्पति की तरह अपने तलदेश मे चारों ओर अबाध स्थान छोडे रखता है; आश्रय लेने पर छाया देता है, चले जाने पर कोई बात नही कहता।

इस एकाकित्व का महत्व जिस के चित्त को आकर्षित नही करता, वह भारतवर्ष को ठीक तरह से पहिचान नहीं सकेगा। बहुत शताब्दियो से प्रबल विदेशी उन्मत्त वराह (शूकर) की भाँति भारतवर्ष को एक कोने से दूसरे कोने तक दाँतों द्वारा विदीर्ण करते फिरे; तब भी भारतवर्ष अपने विस्तीर्ण एकाकित्व द्वारा परिरक्षित था, कोई भी उसके मर्मस्थान पर आघात नही कर सका। भारतवर्ष युद्ध-विरोध न करके भी स्वय को स्वय के भीतर अति सहज ही स्वतन्त्र बनाये रखना जानता है, उसके लिए अब तक अस्त्रधारी पहरेदार की आवश्यकता नहीं हुई। कर्ण ने जिस तरह सहज-कवच लेकर जन्म-ग्रहण किया था, भारतवर्षीय प्रकृति उसी तरह एक सहज वेष्टन के द्वारा आवृत्त है, सब प्रकार के विरोध विप्लव के भीतर भी एक दुर्भेद्य शान्ति उसके साथ-साथ अचला होकर घूमती है; इसीलिए वह टूट नहीं पाता, लुप्त नही हो पाता, कोई उसे ग्रास नही कर सका, वह उन्मत्त भीड के भीतर भी एकाकी विराजित है।

यूरोप भोग मे एकाकी, कर्म मे दलबद्ध है। भारतवर्ष उसके विपरीत है। भारतवर्ष मिल-बाँट कर भोग करता है, कर्म अकेले करता है। यूरोप की धन-सम्पत्ति, आराम-सुख अपने लिए है। परन्तु उनका दान-ध्यान, स्कूल कॉलिज धर्मचर्चा, वाणिज्य व्यवसाय सब सामूहिक है। हम लोगों की सुख सम्पत्ति अकेले की नहीं है, हम लोगों के दान, ध्यान, अध्ययन, हमारे कर्तव्य अकेले के हैं।

इस भाव को प्रयत्न करके नष्ट करना होगा, ऐसी प्रतिज्ञा करने में कुछ नही है, करने पर भी विशेष फल नही हुआ, होगा भी नहीं। यही क्यों वाणिज्य-व्यवसाय मे प्रकाण्ड मूलधन को एक जगह मिलाकर अधिक करके, उसकी सीमा मे छोटी छोटी सामर्थ्य को बल-पूर्वक निष्फल बना देना हम श्रेयस्कर नही समझते, भारतवर्ष के जुलाहे जो मर गये, वह एकत्र हो जाने की त्रुटि से नहीं, अपने यन्त्रों की उन्नति के अभाव से ही मरे। करघा यदि अच्छा हो एव प्रत्येक जुलाहा यदि काम करे, अन्न कमा करके खाये, सन्तुष्ट-चित्त से जीवन-यात्रा का निर्वाह करे, तो समाज के भीतर प्रकृत दारिद्र्य एव ईर्ष्या का विष जम नहीं सके एव मैंचेस्टर अपने जटिल कारखानों के लेकर भी इन लोगों का वध न कर सके। यन्त्र-तन्त्र को अत्यन्त सरल और सहज बना कर, काम में सबको लगा देना, अन्न को सब के लिए सुलभ करना ही प्राच्य आदर्श है। यह बात हमे याद रखनी होगी।

आमोद कहो, शिक्षा कहो, हितकर्म कहो, सभी को एकान्त जटिल और दु साध्य बना देने पर, सहज ही सम्प्रदाय के हाथो में स्वय को समर्पित कर देना पडता है। उससे कर्म का आयोजन और उत्तेजना उत्तरोत्तर इतनी वहद् हो उठती है कि मनुष्य आ-च्छन्न हो जाता है। प्रतियोगिता की निष्ठुर ताडना से कर्मजीवी लोग यन्त्र से नीचे हो जाते हैं। बाहरी ओर से सभ्यता का वृहद् आयोजन देखकर स्तम्भित होते है, उसके तल देश जो निदारुण नरमे ध-

यज्ञ अहोरात्र अनुष्ठित हो रहा है, वह गुप्त बना रहता है। परन्तु विधाता के समीप वह गुप्त नही है, बीच-बीच मे सामाजिक भूकम्प से उसके परिणाम का समाचार मिलता रहता है। यूरोप मे बडे दल छोटे दल को पीस डालते है, बडा रुपया छोटे रुपये को उपवास से क्षीण बनाकर अन्त मे गोली की तरह आँखे बन्द करके निगल जाता है।

काम के उद्यम को अपरिमित बढा देने से, कामो को प्रकाण्ड करके, काम-काम में लडाई बंधवा देने से जो अशान्ति और असन्तोष का विष उन्मथित हो उठता है, आपात उस चर्चा को रहने दिया जाय। मैं केवल सोचता हूँ कि इन सब कृष्ण धूम-श्वसित दानवीय कारखानो के भीतर चारो ओर से मनुष्यो को जिस भाव से झुण्ड बना कर रहना पडता है, उससे उनके निर्जनत्व का सहज अधिकार, एकाकित्व की आबरू नहीं रह पाती। न रहने पर स्थान का अवकाश, न रहने पर समय का अवकाश, न रहने पर ध्यान का अवकाश रहता है। इस रूप मे स्वय के साथ स्वय के समीप अत्यन्त अनवरत हो जाने से, काम से थोडी फ़ुर्सत मिलने पर शराब पीकर आमोद-प्रमोद मे मस्त होकर, बलपूर्वक अपने हाथ से ही छुटकारा पाने की चेष्टा की जाती है। नीरव रहने, स्तब्ध रहने, आनन्द मे रहने की सामर्थ्य फिर किसी मे भी नही रह जाती।

जो लोग श्रमजीवी हैं, उनकी यही दशा है। जो लोग भोगी हैं, वे भोग की नई-नई उत्तेजनाओ से क्लान्त है। निमन्त्रण, खेल, नृत्य, घुड़दौड, शिकार, भ्रमण की आँधी के सामने सूखे पत्तो की तरह दिन-रात वे स्वय को आवर्तित करते घूमते हैं। चक्कर की चाल मे कभी स्वय को एव जगत् को ठीक ठीक भाव से देख नहीं पाते, सब कुछ अत्यन्त धुँधला सा दीखता है। यदि एक क्षण के लिए उनका प्रमोदचक्र रुक जाता है उस क्षण काल के लिए स्वय के साथ साक्षात्कार, वृहद् जगत् के साथ मिलन लाभ, उनके पक्ष में अत्यन्त

दु यह अनुभव होता है।

भारतवर्ष ने भोग की निविडता को आत्मीय स्वजन पड़ोसियों के बीच घिरे रहकर लघु बना दिया है, एवं कर्म की जटिलता को भी सरल करके मनुष्य मनुष्य में विभक्त कर दिया है। इससे भोग में कर्म में एवं ध्यान में से प्रत्येक में मनुष्यत्व चर्चा का यथेष्ट अवकाश रहता है। व्यवसायी व्यक्ति भी मन लगा कर पौराणिक कथाएँ सुनता है, क्रिया कर्म करता है, शिल्पी भी निश्चिन्त मन से स्वर के साथ रामायण पढ़ता है। इस अवकाश के विस्तार में घर को, मन को, समाज को कलुष की सघन वाष्प बहुत कुछ परिमाण में निर्मल बनाये रखता है, दूषित वायु को बद्ध करके नहीं रखता, एवं मलिनता की आवर्जना (कूड़े) को एकदम शरीर के पास भी नहीं जमने देता। आपस की छीना-झपटी, घुला-मिली से जो कामक्रोधादि की दावानल जल उठती है, भारतवर्ष में वह प्रशमित रहती है।

भारतवर्ष के इस अकेले रह कर काम करने के व्रत को यदि हम में से प्रत्येक ग्रहण करलें, तो इसबार का नया वर्ष आशिष की वर्षा और कल्याण की खेती से परिपूर्ण हो जायगा। झुण्ड बनाने, रुपया जुटाने और सकल्प को स्फीत करने के लिए दीर्घकाल तक प्रतीक्षा न करके जो जहाँ है, अपने गाँव में, कोने में, देहात में, घर में, स्थिर शान्त चित्त से, धैर्य के साथ, सन्तोष के साथ, पुण्य-कर्म, मङ्गल कर्म का साधन करना आरम्भ करदे, आडम्बर के अभाव मे क्षुब्ध न होकर, दरिद्र आयोजन मे कुण्ठित न होकर, देशीय भाव से लज्जित न होकर, कुटिया में रह कर, जमीन पर बैठकर उत्तरीय पहिन कर, सहजभाव से कर्म मे प्रवृत्त हो जाँय, धर्म के साथ कर्म को कम के साथ शान्ति को मिला दें, चातक पक्षी की तरह विदेशियों की टाली वर्षा की ओर मुँह उठा कर न देखते रहे— तभी भारतवर्ष के भीतर वाले यथार्थ बल से हम लोग बली होंगे। ——— ——— पा सकते हैं, बल नहीं पा सकते, अपने बल के

अतिरिक्त दल नहीं है। भारतवर्ष जहाँ अपने बल से प्रबल है, उसी स्थान का हमलोग आविष्कार एवं अधिकार कर सकें, तो क्षण-भर में ही हमारी सम्पूर्ण लज्जा अपसारित (दूर) हो जायगी।

भारतवर्ष ने छोटे बड़े स्त्री-पुरुष सभी को मर्यादा प्रदान की है और उस मर्यादा को दुराकांक्षा द्वारा प्राप्त नहीं किया है। विदेशी लोग बाहर से इस बात को देख नहीं पाते। जिस व्यक्ति ने जिस पैतृक कर्म के बीच जन्म ग्रहण किया है, जो कर्म जिसके लिए सुलभ-तम है, उसका पालन करने में ही उसका गौरव है, उससे भ्रष्ट होने में ही उसकी अमर्यादा है। यह मर्यादा मनुष्यत्व को धारण किए रखने का एकमात्र उपाय है। पृथ्वी पर अवस्था की असमानता रहेगी ही, उच्च अवस्था बहुत थोड़े लोगों के भाग्य में ही होती है, बाकी सब लोग यदि अवस्थापन्न लोगों के साथ भाग्य की तुलना करके मन-ही-मन अमर्यादा का अनुभव करें तो वे लोग अपनी दीनता से यथार्थ में ही क्षुद्र हो जाएँगे। विलायत के श्रमजीवी प्राणपण से काम अवश्य करते हैं परन्तु उस काम में उन्हें मर्यादा का आवरण नहीं दिया जाता। वे स्वयं के समीप हीन अनुभव करके यथार्थ में ही हीन हो जाते हैं। इस तरह यूरोप के पन्द्रह आनाभर लोग दीनता से, ईर्ष्या से, व्यर्थ प्रयास से अस्थिर हैं। यूरोपीय पर्यटक अपने दरिद्र और निम्नश्रेणियों के हिसाब से हमारे दरिद्र और निम्नश्रे-णियों की तुलना करते हैं सोचते हैं, उनका दुख और अपमान हममें भी है। परन्तु वैसा बिल्कुल नहीं है। भारतवर्ष में वर्ण-विभेद, श्रेणी विभेद सुनिश्चित होने के कारण उच्चश्रेणी के लोग अपने स्वा-तन्त्र्य की रक्षा के लिए निम्नश्रेणी को लांछित करके बहिष्कृत नहीं करते। ब्राह्मण के गर्व का भी पागी* दावा है। सीमा के भीतर निरापद सुरक्षित बने रहने के कारण ही एक दूसरे के बीच आया-

*एक निम्न जाति।

गमन, मनुष्य के साथ मनुष्य के हृदय का सम्बन्ध बाधाहीन हो उठता है, बड़े लोगों की अनात्मीयता का बोझ छोटे लोगों की हड्डी पसलियों को एकदम पीस नहीं डालता। पृथ्वी पर यदि छोटे बड़े का असाम्य अवश्यम्भावी हो स्वाभाविकरूप से सब जगह सब प्रकार के छोटों की संख्या ही अधिक और बड़ों की संख्या ही स्वल्प हो, तो समाज के इस अधिकांश को अमर्यादा की लज्जा से बचाये रखने के लिए भारतवर्ष ने जिस उपाय को निकाला है, उसी का श्रेष्ठत्व स्वीकार करना पड़ेगा।

यूरोप में इस अमर्यादा का प्रभाव इतनी दूर तक व्याप्त हो गया है कि वहाँ पर आधुनिक स्त्रियों का एक दल, स्त्री बन कर जन्म लेने के कारण से ही लज्जा का अनुभव करता है। गर्भ धारण करने, पति सन्तान की सेवा करने को वे कुण्ठा का विषय समझती हैं। मनुष्य बड़ा है, कर्म-विशेष बड़ा नहीं है, मनुष्यत्व की रक्षा करते हुए जो भी कर्म किया जाय, उसमें अपमान नहीं है; दरिद्रता लज्जाकारक नहीं है, सेवा लज्जाकारक नहीं है, हाथ का काम लज्जाकारक नहीं है; सब कामों में, सभी अवस्थाओं में सहज ही सिर उठाये रक्खा जा सकता है—यह भाव यूरोप में स्थान नहीं पा सका है। इसीलिए सक्षम-अक्षम सभी सर्वश्रेष्ठ होने के लिए समाज में प्रभूत निष्फलता, अन्तहीन वृथा कर्म और आत्मघाती उद्यम की सृष्टि करते रहते हैं। घर को झाड़ना, पानी लाना, सिल पर बटना, आत्मीय-अतिथि सब की सेवा के बाद स्वयं भोजन करना, यह यूरोप की दृष्टि में अत्याचार और अपमान है, परन्तु हमारे लिए यह गृहलक्ष्मी का उन्नत अधिकार है; इसी में उसका पुण्य है, उसका सम्मान है। विलायत में इन सब कामों में हर समय लगे रहते हैं, सुनते हैं, वे लोग इतरभाव को प्राप्त होकर श्रीभ्रष्ट हो जाते हैं। कारण, काम को छोटा समझ कर, वैसा करने के लिए बाध्य होने पर, मनुष्य स्वयं छोटा बन जाता है। हमारी लक्ष्मियाँ जितनी ही सेवा-कर्म की व्रती होती हैं, तभी तुच्छ कर्मों को पुण्य-कर्म बना कर पूरा करती हैं,

असामान्यता हीन स्वामी (पति) को देवता मानकर भक्ति करती हैं, उतनी ही वे श्री-सौन्दर्य से पवित्रता से भर उठती हैं; उनकी पवित्र-ज्योति से चारो ओर से इतरता अभिभूत होकर भाग जाती है।

यूरोप यह बात कहता है कि सभी मनुष्यों को सब कुछ होने का अधिकार है, इस धारणा में ही मनुष्य का गौरव है। परन्तु वस्तुत. सब को सब होने का अधिकार नहीं है, इस अत्यन्त सच्ची बात को विनम्रता पूर्वक आरम्भ से ही मान लेना भला है। विनम्रतापूर्वक मान लेने से उसके बाद फिर कोई अगौरव नहीं रहता। राम के मकान मे श्याम का कोई अधिकार नही है, यह बात स्थिर-निश्चित मान लेने पर राम के मकान मे कर्तृत्व न कर पाने पर भी श्याम को उससे लेशमात्र लज्जा का विषय नही रहेगा। परन्तु श्याम को यदि ऐसा पागलपन दिमाग मे भर जाय कि वह सोच उठे, राम के मकान पर एकाधिपत्य करना ही उसके लिए उचित है, एव उस वृथा चेष्टा मे वह बारम्बार विडम्बित होता रहे तो उसके हर समय अपमान और दु ख की सीमा नही रहेगी। हमारे देश मे अपने स्थान की निश्चित सीमा रेखा के भीतर सभी लोग अपने निश्चित अधिकार मात्र की मर्यादा और शान्ति प्राप्त करते हैं, इसीलिए छोटा सुअवसर पाकर बडे को परेशान नही करता एव बडा भी छोटे को हर समय हर प्रयत्न से परेशान नही रखता।

यूरोप कहता है, यह सन्तोष ही, यह जिगीषा का अभाव ही जाति की मृत्यु का कारण है। वह यूरोपीय सभ्यता की मृत्यु का कारण अवश्य है, परन्तु हमारी सभ्यता की तो वही दीवार है। जो आदमी जहाज में है उसके लिए जो विधान है, जो आदमी घर में है, उस के लिए भी वही विधान नहीं है। यूरोप यदि कहता है, सभ्यता-मात्र ही समान है और उस वैचित्र्यहीन सभ्यता का आदर्श केवल यूरोप मे ही है, तो उसके उस स्पर्धावाक्य को सुनते ही झटपट अपने धन-रत्न को तोड़-फोड़ कर सडक पर बाहर फेंक देना उचित नहीं

होगा।

वस्तुत 'सन्तोष की विकृति है, इसलिए अत्याकांक्षा की विकृति नहीं है'—इस बात को कौन मानेगा ? 'सन्तोष में जरूरत प्राप्त होने पर यदि काम में शिथिलता आ जाती है,' यह सत्य हो तो अत्याकांक्षा की दम (मांस) बढ़ा देने पर जिन भूरि-भूरि अनावश्यक और निदारुण अकाज की सृष्टि होती रहगी, इस बात को क्यों भुलादे ? पहली से यदि बीमार रह कर मृत्यु होती है तो दूसरी से आत्म हत्या के कारण मृत्यु होती है। यह बात याद रखनी आवश्यक है, सन्तोष एव आकांक्षा दोनों की मात्रा बढ जाने पर विनाश का कारण जन्म लेता है।

अतएव उस चर्चा को छोड़ कर यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि सन्तोष, सयम, शान्ति, क्षमा ये सभी उच्चतर सभ्यता के अङ्ग हैं। इसमें प्रतियोगिता की चकाचौंध, ठोकपीट का शब्द और स्फुलिङ्ग-वर्षण नहीं है, परन्तु हीरे के स्निग्ध नि शब्द ज्योति है। उस शब्द और स्फुलिङ्ग को इस ध्रुव ज्योति से अधिक मूल्यवान समझना वर्बरता मात्र है। यूरोपीय सभ्यता के विद्यालय से भी यदि वह वर्बरता प्रसूत हो, तो भी वह वर्बरता ही है।

हमारी प्रकृति के निभृततमकक्ष मे जो अमर भारतवर्ष विराज रहे हैं, आज नववर्ष के दिन उन्हे प्रणाम करने आया हूँ। देखा है, वे फल लोलुप कर्म की अनन्त ताडना से मुक्त होकर शान्ति के ध्यानासन पर विराजमान हैं, अविराम जनता के जड पेषण से मुक्त होकर अपने एकाकित्व मे आसीन हैं एव प्रतियोगिता के निविड सघर्ष और ईर्ष्या-कालिमा से मुक्त होकर वे अपनी अविचलित मर्यादा में परिवेष्टित हैं। यह जो कर्म की वासना, जन-स घ के भघात और जिगीषा की उत्तेजना से मुक्ति है इसी ने सम्पूर्ण भारतवर्ष को ब्राह्म के पथ पर, भयहीन, शोकहीन, मृत्युहीन परम मुक्ति के पथ पर स्थापित कर दिया है। यूरोप जिसे 'फ्रीडम कहता है, वह मुक्ति इसके निकट अत्यन्त क्षीण है। वह मुक्तिचचल है, दुर्बल है, भीरू है; वह स्पर्धित है, वह निष्ठुर है, वह दूसरों

वृक्ष को सजाने पर वह आज तो बना रहेगा, कल नहीं रहेगा। उस नूतनत्व की अचिर-प्राचीनता और विनाश का कोई निवारण नहीं कर सकता। नये बल, नये सौंदर्य को हम लोग यदि अन्यत्र कहीं से उधार ला कर सजाना चाहें, तो दो घड़ी बाद ही वह कदर्यता की माला के रूप में हमारे ललाट को उपहसित करेगा; क्रमशः उसमें से पुष्प-पत्रों के झर जाने पर केवल बन्धन-रज्जु ही रह जायगी। विदेशी वेश-भूषा भाव-भङ्गी हमारे शरीर पर देखते-देखते मलिन, श्री हीन हो जाती है, विदेशी शिक्षा, रीति-नीति हमारे मन में देखते देखते निर्जीव और निष्फल हो जाती है, कारण, उसके पीछे सुदीर्घकालीन इतिहास नहीं है; वह असलग्न, असङ्गत है उसकी कड़ियाँ टूटी हुई हैं। आज के नये वर्ष में हम लोग भारतवर्ष के चिर-पुरातन से ही अपनी नवीनता को ग्रहण करेंगे; सायाह्न में जब विश्राम का घन्टा बजेगा, तब भी वह झर कर नहीं गिर पड़ेगी; उस समय उस अम्लान-गौरव माला को आशीर्वाद के साथ अपने पुत्र के ललाट पर बाँध कर, उसे निर्भय चित्त से, सबल हृदय से विजय के पथ पर प्रेरित करूँगा। जय होगी, भारतवर्ष की ही जय होगी। जो भारत प्राचीन है, जो प्रच्छन्न है, जो वृहत् है, जो उदार है, जो निर्वाक् है उसी की जय होगी। हम लोग, जो कि अंग्रेजी बोलते हैं, अविश्वास करते हैं, मिथ्या कहते हैं, आस्फालन करते हैं, हम लोग वर्ष-प्रतिवर्ष—

'मिलि मिलि जा़ उब सागर लहरी समाना।'

उससे निस्तब्ध सनातन भारत की हानि नहीं होगी। भस्माच्छन्न मौनी भारत चौराहे पर मृगछाला बिछाये बैठा है; हम लोग जिस समय अपनी समस्त सुन्दरता को समाप्त कर, पुत्र-कन्याओं को कोट, फ्रॉक पहना कर विदा होंगे, उस समय भी वह शान्त-चित्त से हमारे पौत्रों के लिए प्रतीक्षा करता रहेगा। वह प्रतीक्षा व्यर्थ नहीं होगा, वे लोग हम सन्यासी के सामने आकर हाथ जोड़ कर कहेंगे, 'पितामह, हम लोगों को मन्त्र दो।'

वे कहेंगे, 'ॐ इति ब्रह्म।'
वे कहेंगे, 'भूमैव सुखं नाल्पे सुखमस्ति।'
वे कहेंगे, 'आनंद ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन।'

७७

वे कहेंगे, 'ॐ इति ब्रह्म।'
वे कहेंगे, 'भूमैव सुखं नाल्पे सुखमस्ति।'
वे कहेंगे, 'आनदं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन।'

केकाध्वनि

हठात् घर के पालतू मयूर (मोर) की आवाज सुन कर, मेरे मित्र कह उठे—'मैं इस मोर की आवाज को सहन नही कर पाता; कवियों ने मोर की बोली को अपने काव्य मे स्थान क्यो दिया, समझने की सामर्थ्य नही है।'

कवि ने जब वसन्त के कुहूस्वर (कोयल की आवाज़) एवं वर्षा के मोर, दोनो को ही समान आदर दिया है, तब अचानक मन को लग सकता है, *कवि को शायद कैवल्य दशा की प्राप्ति हुई है*—उनके समीप भला और बुरा, ललित और कर्कश का भेद लुप्त है।

केवल मोर ही क्यो, मेढक की आवाज एवं झिल्ली की झंकार को कोई मधुर नही कह सकता। अथच, कवियो ने इन शब्दों की भी उपेक्षा नही की है। प्रेयसी के कण्ठ-स्वर के साथ इनकी तुलना करने का साहस नही पाया, परन्तु षड्-ऋतु के महासंगीत का प्रधान अंग कह कर उन्होंने इन सब को भी सम्मान दिया है।

एक प्रकार की मधुरता है, वह निस्सन्देह मधुर है, नितान्त ही मधुर है। वह अपने लालित्य को प्रमाणित करने मे क्षणभर का भी समय नहीं लेती। इन्द्रियो के असन्दिग्ध साक्ष्य को लेकर मन उसका सौन्दर्य स्वीकार करने में तनिक भी तर्क नहीं करता। वह हमारे मन का अपना आविष्कार नहीं है इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त किया गया है, इसीलिए मन उसकी अवज्ञा नहीं करता, कहता है, यह नितान्त ही मधुर है।

केवल मधुर है। अर्थात्,उसकी मधुरता को समझने मे अन्त.करण की कोई आवश्यकता नही पड़ती, केवलमात्र इन्द्रियो द्वारा ही समझी जाती है। जो लोग गायन के जानकार हैं, इसीलिए वे अत्यन्त उपेक्षा प्रकट करते हुए कहते हैं अमुक व्यक्ति मीठा गाता है। भाव यही है कि मीठा-गायक गायन को हमारी इन्द्रिय सभा मे लाकर नितान्त सुलभ प्रशसा द्वारा अपमानित करता है, परिमार्जित-रुचि और शिक्षित मन के दरबार मे वह प्रवेश नही करता। जो लोग पाट (पटुआ) के अभिज्ञ खरीददार हैं, वे रक्त सिक्त पाट को नही चाहते, वे कहते हैं, 'मुझे सूखा पाट दो, तभी मैं ठीक वजन समज सकूंगा।' गायन का उपयुक्त समझदार कहता है, 'व्यर्थ रस देकर गायन का व्यर्थ गौरव मत बढाओ, मुझे सूखा माल दो, तभी मैं ठीक वजन पाऊंगा, मैं खुश होकर ठीक दाम चुका दूंगा।' बाहर की व्यर्थ मधुरता से असल वस्तु का मूल्य कम कर दिया जाता है।

जो सहज ही मधुर है, उससे मन को शीघ्र ही आलस्य आ जाता है, अधिक देर तक मनोयोग नहीं रहता। अविलम्ब ही उसकी सीमा से उत्तीर्ण होकर मन कहता है, 'और क्यो, बहुत हो गया।'

इसीलिए जिस व्यक्ति ने जिस विषय मे विशेष शिक्षा प्राप्त की है, वह उसके आरम्भ के नितान्त सहज और ललित अश की अधिक खातिर नहीं करता। कारण, उसकी सीमा को उसने जान लिया है; उसकी दौड अधिक दूर तक नही है इस बात को वह समझता है; इसीलिए उसका अन्त करण उससे जाग्रत नहीं होता। शिक्षित उस सहज अश को ही समझ पाता है, अथच, तब भी वह उसकी सीमा को नहीं पाता—इसीलिए उस अगम्भीर अश मे ही उसका एकमात्र आनन्द है। समझदार के आनन्द को वह एक किम्भूत व्यापार के रूप मे अनुभव करता है, बहुत बार उसे कपटता का आडम्बर कह कर भी गिनता रहता है।

इसीलिए हर प्रकार की कला-विद्याओं के सम्बन्ध में शिक्षित और अशिक्षित का आनन्द भिन्न भिन्न मार्ग पर जाता है। उस समय एक पक्ष कहता है, 'तुम क्या समझोगे।' और दूसरा पक्ष नाराज होकर कहता है, 'जो समझने के लिए है, उसे केवल तुम्ही समझोगे, संसार मे और कोई नहीं समझेगा ?

एक सुगम्भीर सामजस्य का आनन्द, सस्थान-समावेश का आनन्द दूरवर्ती के साथ योग संयोग का आनन्द, पार्श्ववर्ती के साथ वैचित्र्य साधन का आनन्द—ये सब मानसिक आनन्द हैं। भीतर प्रवेश किये बिना, समझे बिना इस आनन्द को उपभोग करने का उपाय नही है। ऊपर से ही भट् से जो सुख पाया जाता है, यह उसकी अपेक्षा स्थायी और गहरा है। एक एक हिसाब से उसकी अपेक्षा व्यापक है। जो अगभीर है,लोगों की शिक्षा-विस्तार के साथ है, अभ्यास के साथ है, क्रमश वह क्षय हो जाता है और उसकी रिक्तता बाहर निकल पडती है। जो गम्भीर (गहरा) है, वह आपातत बहुत लोगो के गम्य न होने पर भी बहुत समय तक उसकी परमायु रहती है, उसके भीतर जो एक श्रेष्ठता का आदर्श है, वह सहज ही जीर्ण नही होता।

जयदेव की 'ललित लवङ्गलता' अच्छी है, परन्तु अधिक देर तक नही। इन्द्रियाँ उसे मन-महाराज के समीप निवदित करती हैं, मन उसे एक बार छू कर ही रख देता है—उस समय वह इन्द्रियों के भोग में ही समाप्त हो जाती है। 'ललित लवगलता' की बगल में 'कुमार सम्भव' के एक श्लोक को रख कर देखा जाय,

'आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां
वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तवकावनम्रा
सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव।'

छन्द आलुलायित (मुक्त) नहीं है, बातें संयुक्ताक्षर बहुल हैं, फिर

भी भ्रम होता है, यह श्लोक 'ललितलवगलता' की अपेक्षा भी कानों को मधुर सुनाई पड़ता है। परन्तु वह भ्रम है। मन स्वय की सृजन शक्ति द्वारा इन्द्रियसुख को पूर्ण किए दे रहा है। जहां पर लोलुप इन्द्रियो की भीड खड़ी नहीं होती, वही पर मन इस प्रकार के सृजन का अवसर पाता है। पर्याप्तपुष्पस्तवकावनम्रा—इसके भीतर लय का जो उत्थान-पतन है, कठोरता में, कोमलता मे, यथायथ रूप मे सम्मिलित होकर छन्द को जो दोला दिया है, वह जयदेवी लय की तरह अति प्रत्यक्ष नही है, वह निगूढ है, मन उसे आलस्य में भरकर लेटे हुए नहीं पा लेता, स्वय आविष्कृत करके प्रसन्न होता है। इस श्लोक के भीतर जो एक भाव का सौन्दर्य है वह भी हमारे मन के साथ चक्कर काट कर एक अश्रुतिगम्य सगीत की रचना करता है, वह सगीत समस्त शब्द सगीत को छोडता चला जाता है, लगता है जैसे कान शीतल हो गये—परन्तु कानो के शीतल होने की बात नही है मानसी-माया कान को प्रतारित करती है।

अपने इस मायावी मन को सृजन का अवकाश न देने पर, वह किसी मधुरता को अधिक देर तक मधुर कह कर गिनता ही नही। वह उपयुक्त उपकरण पाकर कठोर छन्द को ललित, कठिन शब्द को कोमल बना सकता है। उसी शक्ति को काम मे लगाने के लिए वह कवियो के समीप अनुरोध प्रेषित करता है।

मोर का शब्द कानों मे मधुर सुनाई नहीं देता, परन्तु अवस्था-विशेष मे, समय विशेष मे मन उसे मधुर बनाकर सुन पाता है, मन मे वही क्षमता है। उस मधुरता का स्वरूप कोयल की तान की मधुरता से स्वतन्त्र (भिन्न) है—नव वर्षागम मे, गिरि पाद-मूल मे, लता-जटिल प्राचीन महारण्य के भीतर जो मस्ती उपस्थित होती है, मोर का शब्द उसी का गीत है। आषाढ़ मे श्यामायमान तमाल-तालीवन के द्विगुणतर घनायित अन्धकार मे, मातृस्तन्यपिपासु ऊर्ध्व बाहु शत-सहस्र शिशुओं की भाँति अगण्य शाखा प्रशाखाओं के आन्दोलित मर्मर-

मुखर महोल्लास के बीच, रह-रह कर मोर तार-स्वर में जिस एक कांस्य-झंकार ध्वनि को उत्पन्न करता है, उससे प्रवीण वनस्पति मण्डली के भीतर आरण्य-महोत्सव के प्राण जग उठते हैं। कवि का केका-रव (मयूर का शब्द) उसी वर्षा का गीत है—कान उसके माधुर्य को नहीं जानते, मनही जानता है। इसीलिए मन उससे अधिक मुग्ध होता है। मन उसके साथ-साथ और भी बहुत कुछ प्राप्त करता है - समस्त मेघावृत आकाश, छायावृत अरण्य, नीलिमाच्छन्न गिरि-शिखर विपुल मूढ़ प्रकृति की अव्यक्त अन्ध आनन्दराशि।

विरहिणी की विरह-वेदना के साथ कवि का केका रवि इसीलिए मयुक्त है। वह क्ष ुतिमधुर होने के कारण पथिक-वधू को व्याकुल नहीं करता, वह समस्त वर्षा का मर्मोद्घाटन कर देता है। नर नारी के प्रेम के भीतर एक अत्यन्त आदिम प्राथमिक भाव है, वह वहि प्रकृति का अत्यन्त निकटवर्ती है, वह जल-स्थाल आकाश के अग अग से सलग्न है। षड्-ऋतुऐं अपने पुष्प-पर्याय के साथ-साथ इस प्रेम को अनेक रगों से रग जाती हैं। *जिससे पल्लव को स्पन्दित, नदी को तरगित, शस्य शीर्ष को हिल्लोलित करती हैं, उससे इसे भी अपूर्व चांचल्य से आन्दोलित* करती रहती हैं,पूर्णिमा के ज्वार की रात्रि इसे स्फीत करती है एव सन्ध्याकाश की लाली से इसे लज्जा-मंडित वधू-वेश पहिना देती है। एक-एक ऋतु जिस समय अपनी सोन की सलाई लेकर प्रेम का स्पर्श करती है, उस समय वह रोमांचित-शरीर से जगे बिना नहीं रह पाता। वह वन के पुष्प-पल्लवों की ही तरह प्रकृति की निगूढ़ स्पर्धा के अधीन है। इसीलिए यौवनावेश-विधुर कालिदास ने छह ऋतुओं के छह तारों मे *नर-नारी का प्रेम किस-किस सुर मे बजता रहता है, उसी का वर्णन* किया है, उन्होंने समझ लिया था, ससार मे ऋतु-आवर्तन का सर्वप्रधान कार्य प्रेम को जगाना है, फूल खिलाना आदि अन्य सब काम उसके आनुषङ्गिक हैं। इसीलिए केका-रव वर्षा ऋतु का निषाद-सुर है, उसका आघात विर-वेदना के ठीक ऊपर ही जाकर पड़ता है।

विद्यापति ने लिखा है :

'मत्त दादुरी डाके डाहुकी,
फाटी जाउत छातिया।'

यह मेढक की पुकार नव-वर्षा के मत्त भाव के साथ नहीं है। सघन वर्षा के निविड भाव के साथ बड़ा आश्चर्यजनक मेल खाती है। बादलो के भीतर आज कोई वर्ण-वैचित्र्य नही है, स्तर-विन्यास नही है—शची की कोई प्राचीन किंकरी ने आकाश का आंगन बादलो से समान करके लेप दिया है. सब कुछ कृष्ण–धूसरवर्ण है। नाना–शस्य–विचित्र पृथ्वी के ऊपर उज्ज्वल आलोक की तूलिका नहीं गिर रही, इसीलिए वैचित्र्य नहीं खिल रहा है। धान के कोमल मसृण हरीतिमा, पाट को गहरा रंग एव ईख की हरिद्राभा एक विश्वव्यापी कालिमा मे मिली हुई है। हवा नही है। आसन्न–वृष्टि की आशङ्का से पङ्किल–पथ पर लोग बाहर नही निकल रहे है। मैदानों मे बहुत दिन पहले से ही खेतो का सब काम समाप्त हो गया है। इस तरह के ज्योतिहीनि, गति-हीन, कर्म-हीन, वैचित्र्य–हीन, कालिमालिप्त एकाकार के दिन मे मेढक की पुकार ठीक सुर लगा रही है। उसका सुर इस वर्ण-हीन मेघ की तरह, इस दीप्ति-शून्य आलोक की तरह निस्तब्ध निविड वर्षा को व्याप्त कर रहा है; वर्षा के घेरे को और भी सघन करके चारो ओर खींचे दे रहा है। वह नीरवता से भी अधिक अरुचिकर है। वह निभृत कोलाहल है। इसके साथ झिल्ली का अच्छा रूप मिल जाता है; कारण जिस तरह के मेघ हैं; जिस तरह की छाया है, उसी तरह झिल्ली–रव भी दूसरा आच्छादन-विशेष है, वह स्वर-मंडल मे अन्धकार का प्रतिरूप है; वह वर्षा–निशीथिनी को सम्पूर्णता प्रदान करता है।

नव वर्षा

आषाढ़ का मेघ प्रतिवर्ष जब आता है, तब अपने नवीनत्व में रसाक्रान्त एवं प्राचीनत्व में पुंजीभूत होकर आता है। उसे हम लोग भूल नहीं पाते, कारण, वह हमारे व्यवहार के बाहर रहता है। हमारे संकोच के साथ वह संकुचित नहीं होता।

मेघ में हमारा कोई चिह्न नहीं है। वह पथिक है, आता जाता है, ठहरता नहीं है। हमारी जीर्णता उसे स्पर्श करने का अवकाश नहीं पाती। हमारी आशा निराशा से वह बहुत दूरी पर है।

इसीलिए कालिदास ने उज्जयिनी के प्रासाद-शिखर से जिस आषाढ़ के मेघ को देखा था, हम लोग भी उसी मेघ को देखते हैं, इस बीच परिवर्तमान मनुष्य का इतिहास उसे स्पर्श नहीं करता। परन्तु वह अवन्ती, वह विदिशा कहाँ है। मेघदूत का मेघ प्रतिवर्ष चिर-नूतन, चिर-पुरातन बन कर दिखाई देता है विक्रमादित्य की जो उज्जयिनी मेघ की अपेक्षा दृढ़ थी, विनष्ट-स्वप्न की भाँति उसे दुबारा इच्छा करने पर भी गढ़ने की सामर्थ्य नहीं है।

मेघ को देखकर 'सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः,' सुखी लोगों का भी अनमना भाव हो जाता है इसीलिए। मेघ मनुष्यों को किसी किनारे-किनारे नहीं, बल्कि मनुष्य की अभ्यस्त घेरे के बाहर ले जाता है। मेघ के साथ हमारे प्रतिदिन की चिन्ता-चेष्टा-काम-काज का कोई सम्बन्ध न होने के कारण ही वह हमारे मन को छुट्टी देता

है। मन उस समय बन्धन को नही मानना चाहता, स्वामी के शाप से निर्वासित यक्ष का विरह उस समय उद्दाम हो उठता है। स्वामी-सेवक का सम्बन्ध ससार का सम्बन्ध है, मेघ ससार के इन प्रयोजनीय सम्बन्धो को भुला देता है, उस समय हृदय बांध को तोड कर अपना रास्ता निकालने की चेष्टा करता है।

मेघ अपने नित्य-नवीन चित्र-विन्यास मे, अन्धकार मे, गर्जन मे, वर्षण मे, परिचित पृथ्वी के ऊपर एक प्रकाण्ड अपरिचितता का आभास निक्षेप करता है-एक बहुदूर कालीन एव बहुदूर देशीय निविड छाया को घनीभूत कर देता है—उस समय परिचित पृथ्वी के हिसाब से जो असम्भव था, वह सम्भव जैसा प्रतीत होता है। 'कर्म-पाश-बद्ध प्रियतम आ नही पा रहा है', पथिक-वधू उस समय इस बात को फिर नही मानना चाहती। ससार के कठिन नियम को वह जानती है, परन्तु केवल जानती ही है, 'वह नियम इस समय भी बलवान है', निविड वर्षा के दिन मे इस बात पर उसे विश्वास नही होता।

वही बात सोच रहा था, भोग के द्वारा यह विपुल पृथ्वी, यह चिरकालीन पृथ्वी, मेरे समीप खर्व (छोटी) हो गई है। मैंने उसे जितना पाया है, उसे उतने ही रूप मे जानता हूँ, अपने भोग के बाहर उसके अस्तित्व को मैं गिनता ही नहीं हूँ। जीवन सख्त होकर बँध गया है, साथ ही साथ उसने अपनी आवश्यकता की पृथ्वी भर को खीचकर लपेट लिया है। अपने भीतर एव अपनी पृथ्वी के भीतर अब और कोई रहस्य न देख पाने के कारण ही शान्त हो आया है। 'स्वय को सम्पूर्ण रूप से जानता हूँ' समझ लिया है एव अपनी पृथ्वी भर को 'सम्पूर्ण जान लिया है' के रूप मे स्थिर कर लिया है। इसी समय पूर्व दिगन्त को स्निग्ध अन्धकार से आच्छन्न करके वही से वही शत शताब्दी पूर्व के कालिदास का मेघ आकर उपस्थित हो जाता है। वह मेरा नहीं है; मेरी पृथ्वीमात्र का नही है, वह मेरा किस अलकापुरी से, किस चिर-यौवन के राज्य में, चिर-विच्छेद की वेदना से, चिर-मिलन के आश्वा-

शन मे, चिर-सौंदर्य की कैलासपुरी के पथ चिन्ह-हीन तीर्थाभिमुख से आकर्षण करता रहता है। उस समय, पृथ्वी को जितना जानता हू वह सब तुच्छ हो जाता है, जिसे जान नही पाता वही बडा हो उठता है। जिसे प्राप्त नही कर सका, वही लब्धवस्तु की अपेक्षा अधिक सत्य अनुभव होता रहता है।

मेरे नित्य-कर्म क्षेत्र को, नित्य-परिचित-संसार को-आच्छन्न करके सजल मेघ मेदुर परिपूर्ण नव-वर्षा मुझे अज्ञात अवलोक के भीतर समस्त विधि-विधान से बाहर एकदम अकेला खडा कर देती है—पृथ्वी की इन कुछ वर्षों को निकालकर मुझे एक प्रकाण्ड परमायु के विश्वासत्व के भीतर स्थापित कर देती है, मुझे रामगिरी आश्रम के जन-शून्य शैल-शृङ्ग के शिलातल पर सङ्गी-हीन बनाकर छोड देती है। वह निर्जन शिखर एव मेरे किसी एक चिर-निकेतन अन्तरात्मा के चिरगम्य-स्थान अलकापुरी के भीतर एक सुवृहद् सुन्दर पृथ्वी पडी हुई है; ऐसा लगता है—नदी कलध्वनिन, सानुमतपर्वत-बन्धुर, जम्बूकुञ्ज छायान्धकार, नव-वारिसिञ्चित यूथीसुगन्धित एक विपुल पृथ्वी। हृदय उसी पृथ्वी के वन-वन मे, गाँव-गाँव मे, शिखर-शिखर पर, नदी के किनारे किनारे फिरते-फिरते, अपरिचित सुन्दर का परिचय लेते-लेते दीर्घ-विरह के अन्तिम मोक्षस्थान पर जाने के लिए मानसोत्र हंस की भांति उत्सुक हो उठता है।

मेघदूत के अतिरिक्त नव-वर्षा का काव्य किसी साहित्य मे कही भी नहीं है। इसमें वर्षा की समस्त अन्तर्वेदना नित्यकाल की भाषा मे लिखी गई है। प्रकृति के सांसारिक मेघोत्सव की अनिर्वचनीय कविरव-गाथा मानव की भाषा मे बँधी पडी है।

पूर्वमेघ मे वृहद् पृथ्वी हमारी कल्पना के समीप उद्घाटित हुई है। हम लोग सम्पन्न गृहस्थ बनकर आराम से सन्तोष की अर्धनिमीलन आँखों से जिस घर के भीतर निवास कर रहे थे, कालिदास के मेघ ने आषाढस्य प्रथम दिवसे, हठात् आकर हमे उस जगह मे गृह-विहीन कर

दिया। हमारी गोशाला-पशुशाला से बहुत दूर जो आवर्त चञ्चला नर्मदा भ्रुकुटि रचना करती जा रही है, जिस चित्रकूट के पादकुञ्ज प्रफुल्ल नवनीप से विकसित हैं, उदयन कथा कोविद ग्राम वृद्धो के द्वार के समीप जो चैत्यवट शुक-काकली से मुखर है, वही हमारे परिचित क्षुद्र ससार को निरस्त करके विचित्र सौन्दर्य के चिर-सत्य से उद्भासित होकर दिखाई दे उठा है।

विरही की व्यग्रता से भी कवि ने पथ सक्षेप नही किया। आषाढ के नीलाभ मेघच्छायावृत नग-नदी-नगर-जनपद के ऊपर होकर रुक-रुक कर आवाविष्ट अलस-गमन से यात्रा की थी। जिसने उनके मुग्ध नयनों की अभ्यर्थना करके पुकारा था, वे उसमे फिर 'ना' नही कह पाये। पाठक के चित्त को कवि ने विरह के वेग से बाहर निकाला है, फिर पथ के सौन्दर्य से मन्थर बना दिया है। जिस चरम स्थान मे मन दौड रहा है, उसका सुदीर्घ पथ भी मनोहर है, उस पथ की उपेक्षा नही की जा सकती।

वर्षा मे अभ्यस्त परिचित ससार मे विक्षिप्त होकर मन बाहर की ओर जाना चाहता है, पूर्वमेघ मे कवि ने हमारी उसी आकांक्षा को उद्वेलित करके, उसी के कलगान को जगाया है, हम लोगो को मेघ का साथी बनाकर अपरिचित पृथ्वी के बीच मे होकर लेकर चले है। वह पृथ्वी 'अनाघ्रात पुष्पम्' है, वह हमारे प्रतिदिन के भोग के द्वारा तनिक भी मलिन नही हुई है उस पृथ्वी मे हमारे परिचय की प्राचीर द्वारा कल्पना किसी जगह बाधा नहीं पाती। जैसा यह मेघ है, वैसी ही यह पृथ्वी है। मेरे इस सुख-दुख क्लान्ति-अवसाद का जीवन उसे कहीं भी स्पर्श नहीं करता। प्रौढ-वयस की निश्चयता को बेडे से घेर कर, उसे अपने वास्तु-बागान के अन्तर्मुक्त नही कर लिया गया है।

अज्ञात निखिल के साथ नवीन परिचय, यही हुआ पूर्वमेघ। नवीन मेघ का एक और काम भी है। वह हमारे चारो ओर एक परम-निभृत परिवेष्टन की रचना करके, 'जनान्तरसौहृदानि' स्मरण करा

देता है; अन्त सौन्दर्य-लोक के भीतर किसी एक चिर शान्त चिर
के लिए मन को उतावला बना देता है।

पूर्वमेघ में बहु-विचित्र के साथ सौन्दर्य का परिचय है
उत्तरमेघ मे उस एक के साथ आनन्द का सम्मिलन है। पृथ्वी पर
के भीतर होकर वही सुख की मात्रा है एवम् स्वर्गलोक मे एक के भी
वही अभिसार का परिणाम है।

नव-वर्षा के दिन इस विषय कर्म के क्षुद्र-संसार को कौन निव
सिन नहीं देगा। स्वामी के अभिशाप से ही इस जगह अटके पड़े हैं
मेघ आकर बाहर की यात्रा करने के लिए आह्वान करता है, उसी
लिए पूर्वमेघ का गीत है एवम् यात्रा की समाप्ति पर चिर-मिलन के लि
आश्वासन देना है, उसी के उत्तर मेघ का सम्वाद है।

सभी कवियों के काव्य के गूढ़ अभ्यन्तर में यही पूर्वमेघ और
उत्तरमेघ है। सभी बड़े काव्य हमे वृहत् के भीतर आह्वान करते हैं और
निभृत की ओर निर्देश करते हैं। पहले बन्धन को काट कर बाहर निका-
लते हैं, बाद मे एक भूमा के साथ बांध देते हैं। प्रभात मे पथ पर ले
आते हैं, सन्ध्या में घर को ले जाते हैं। एक बार 'तान' के भीतर
आकाश-पाताल घुमा कर 'सम' के भीतर पूर्ण आनन्द मे खड़ा कर देते हैं।

जिस कवि की 'तान' है, परन्तु कहीं भी 'सम' नहीं है, जिसके
भीतर केवल उद्यम है, आश्वास नहीं है, उसका कवित्व उच्च-काव्य-
श्रेणी मे स्थायी नहीं हो पाता। अन्त में कहीं एक जगह पहुँचा दिया
जायगा, इस भरोसे पर ही हम लोग अपने चिराभ्यस्त संसार से बाहर
निकल कर कवि के साथ यात्रा करते हैं; पुष्पित पथ के बीच मे से
लाकर हठात् एक शून्य गह्वर के भीतर छोड़ देने से विश्वास-घात किया
जाना होता है। इसीलिए किसी कवि का काव्य पढ़ते समय हम लोग
यही दो प्रश्न पूछते हैं, उसका पूर्वमेघ हम लोगों को कहां बाहर निका-
लता है एवम् उत्तर मेघ किस सिंह द्वार के सामने लाकर खड़ा कर
देता है।

मनुष्य

स्रोतस्विनी प्रात काल मेरे बड़े रजिस्टर को हाथ मे लेकर आती हुई बोली, 'यह सब तुमने क्या लिखा है। मैंने जो सब बातें किसी भी काल मे नही कहीं, तुमने मेरे मुँह मे क्यों बैठादी हैं।'

मैंने कहा, 'उससे दोष क्या हुआ।'

स्रोतस्विनी ने कहा, 'इस तरह की बातें मैंने कभी नही कहीं और कह भी नहीं सकती। यदि तुम मेरे मुँह मे ऐसी बातें रखते, जिन्हें मैंने कहूँ या न कहूँ, यह कहना मेरे लिए सम्भव होता, तो वैसा होने पर मैं इस तरह लज्जित नही होती। परन्तु यह तो तुम एक पुस्तक लिखकर मेरे नाम से चला रहे हो।'

मैंने कहा, 'तुमने मेरे समीप कितना कहा है, उसे तुम किस तरह समझोगी। तुम जितना कहती हो, उसके साथ तुम्हें जितना जानता हूँ, दोनो मिलकर बहुत कुछ हो जाते हैं। तुम्हारे सम्पूर्ण जीवन के द्वारा तुम्हारी बातें भर उठती हैं। तुम्हारी वे अव्य अनुक्त बातों को तो बाद नही दे सकता।'

स्रोतस्विनी चुप बनी रही। पता नहीं, समझी या नही समझी। लगता है समझ गई, परन्तु फिर भी दुबारा कहा, 'तुम जीवन्त वर्तमान हो, प्रतिक्षण नये-नये भावों मे स्वय को व्यक्त करती हो—तुम जो हो। तुम जो सत्य हो, तुम जो सुन्दर हो, इस विश्वास का उद्रेक करने के लिए तुम्हें कोई प्रयत्न ही नहीं करना पड़ता है। परन्तु लेखन मे उस

पहले सत्य को ही प्रमाणित करने के लिए अनेक उपायों का अवलम्बन एव अनेक वाक्यो का व्यय करना पड़ता है। अन्यथा प्रत्यक्ष के साथ अप्रत्यक्ष समकक्षता की रक्षा किस तरह कर सकेगा। तुम जो सोचती हो, मैंने तुमसे अधिक कहलवाया है, वह ठीक नहीं है। मैंने अपितु तुम्हें संक्षिप्त कर लिया है—तुम्हारी लाख-लाख बातों, लाख-लाख काम, चिर-विचित्र आकार-इंगित का केवल मात्र सार-सग्रह कर लिया गया है। अन्यथा, तुमने जो बातें मेरे समीप कही हैं, ठीक उन्हीं बातों को मैं और किसी के कानों में नहीं पहुँचा सकता था—लोगों से बहुत कम सुना जाता एव गलत सुना जाता।'

स्रोतस्विनी दक्षिण पार्श्व में ईषत् मुँह फिराकर एक पुस्तक खोलकर उसके पन्ने उलटती हुई बोली, 'तुम मुझे स्नेह करने के कारण मुझे जितना देखते हो, मैं तो वास्तव में उतनी नहीं हूं।'

मैंने कहा 'मुझ में क्या इतना स्नेह है कि तुम वास्तव में जितनी हो मैं तुम्हें उतना देख पाऊँगा। एक मनुष्य के सर्वस्व को कौन सीमा में रख सकता है, ईश्वर की तरह किसका स्नेह है।'

क्षिति (पृथ्वी) तो एक दम ही अस्थिर हो उठी, बोली, 'यह तुमने फिर कैसी बात उठाई। स्रोतस्विनी ने तुमसे एक भाव से प्रश्न पूछा था, तुमने दूसरे भाव से उसका उत्तर दिया है।'

मैंने कहा, 'मैं कह रहा था, जिसे हम लोग प्रेम करते हैं, केवल उसी के भीतर हम अनन्त का परिचय पाते हैं। यही क्यों, जीव के भीतर अनन्त को अनुभव करने का ही दूसरा नाम प्रेम है। प्रकृति के भीतर अनुभव करने का नाम सौन्दर्य-सम्भोग है। समस्त वैष्णव धर्म के भीतर यह गंभीर तत्व ही निहित रहा है।

'वैष्णवधर्म ने पृथ्वी के समस्त प्रेम-सम्पर्क के भीतर ईश्वर को अनुभव करने की चेष्टा की है। जब देखा है माँ अपनी सन्तान के भीतर आनन्द की और अवधि नहीं पाती, सम्पूर्ण हृदय क्षण-क्षणपर तह-की-तह में खुल कर इस क्षुद्र-मानवाङ्कुर को पूर्णरूप से वेष्टित

करके समाप्त नही कर पाती, तब अपनी सन्तान के भीतर अपने ईश्वर की उपासना की है। जब देखा है, स्वामी के लिए सेवक अपने प्राण देता है, मित्र के लिए मित्र अपने स्वार्थ का विसर्जन करता है, प्रियतम एव प्रियतमा पारस्परिकता के समीप अपनी समस्त आत्मा को समर्पित करने के लिए व्याकुल हो उठते हैं, उस समय इस समस्त प्रेम के भीतर एक सीमातीत लोकातीत ऐश्वर्य का अनुभव किया है।'

समीर (वायु) अब तक मेरे रजिस्टर को पढ रही थी, समाप्त करके कहा, 'यह क्या किया है। तुम्हारी डायरी के ये लोग क्या मनुष्य हैं अथवा यथार्थ ही भूत है? ये लोग दखती हैं, केवल बडी-बडी अच्छी-अच्छी बातें ही कहते है, परन्तु इन लोगों का आकार-आयतन कहाँ गया।'

मैंन विपण्ण मुख मे कहा, 'क्यो, बताओ तो सही।'

समीर ने कहा, 'तुमने सोचा है, आम की अपेक्षा आमसत्व अच्छा है—उससे समस्त गुठली, रेशे, आवरण एव जलीय अश का परिहार कर दिया जाता है—परन्तु उसकी वह लोभन गन्ध, वह शोभन आकार कहाँ है। तुम केवल मेरा सारमात्र ही आदमी को दोगे, मेरा मनुष्य कहाँ चला गया। मेरी बेबाक-व्यर्थ की बातों को तुमने बाजाप्ता करके जो एक ठोस मूर्ति खडी करा दी है, उसमे दन्त-स्फुट करना दुःसाध्य है। मैं केवल दो-चार चिन्ताशील लोगों के निकट वाहवा नहीं पाना चाहती, मैं साधारण लोगों के बीच बची रहना चाहती हूँ।'

मैंने कहा, 'उसके लिए क्या करना होगा।'

समीर ने कहा, 'उसे मैं क्या जानूँ। मैंने केवल आपत्ति प्रकट कर दी है। मेरा जैसा सार है, वैसा ही मेरा स्वाद है; सारांश मनुष्य के पक्ष मे आवश्यक हो सकता है, परन्तु स्वाद मनुष्य के निकट प्रिय है।

मुझे उपलक्ष करके मनुष्य कितने ही मत किम्वा तर्क उठायेगा ऐसा इच्छा नहीं करता, मैं चाहती हूँ मनुष्य मुझे अपना आदमी समझ कर पहिचान ले। इस भ्रम सङ्कुल साध के मानव-जन्म को त्याग कर एक मासिक पत्र के निर्मूल प्रबन्ध के आकार में जन्मग्रहण करने की मेरी प्रवृत्ति नहीं होती। मैं दार्शनिक तत्व नहीं हूँ, मैं छापे की पुस्तक नहीं हूँ, मैं तर्क की सुयुक्ति अथवा कुयुक्ति नहीं हूँ, मेरे मित्र मेरे आत्मीय मुझे सर्वदा जो कह कर जानते हैं, मैं वही हूँ।'

समीर ने कहना जारी रक्खा, 'युवावस्था में आँखों को संसार में कोई मनुष्य दीखता ही नहीं था लगता था, यथार्थ मनुष्य उपन्यास, नाटक एवं महाकाव्य का ही आश्रय लिए हुए हैं संसार में केवल मात्र एक ही दोष बचा है। अब दीख रहा है कि लोकालय में मनुष्य ढेरों हैं, परन्तु भोले मन,ओ,भोले मन मनुष्य को क्यों नहीं पहचाना।' भोले मन, इस संसार के बीच एकबार प्रवेश करके देख, इस मानव हृदय की भीड़ के भीतर। सभास्थल में जो लोग बात नहीं कह पाते,वहाँ वे लोग बात कहेंगे, लोकसमाज में जो लोग एक कोने में उपेक्षित रहते हैं वहाँ उनका एक नया गौरव प्रकाशित होगा—पृथ्वी पर जो लोग अनावश्यक बोध होते हैं, 'वहाँ दीखता है, उन्हीं के सरल प्रेम, अविश्राम सेवा, आत्म-विस्मृत आत्म-विसर्जन के ऊपर पृथ्वी प्रतिष्ठित हो रही है। भीष्म, द्रोण, भीमार्जुन महाकाव्य के नायक हैं, परन्तु हमारे छोटे-छोटे कुरुक्षेत्रों में उनकी आत्मीय-स्वजाति है, उस आत्मीयता को कौन सा नया द्वैपायन आविष्कृत करेगा एवं प्रकट करेगा।

मैंने कहा, 'न करने पर क्या इस तरह हो सकता है। मनुष्य एक दूसरे को यदि नहीं पहिचानेगा तो एक दूसरे को इतना प्रेम किस तरह करेगा। एक युवक अपने जन्म-स्थान और आत्मीय-वर्ग से बहुत दूरी पर दो-दस रुपये वेतन पर रहकर अस्थायी मुहर्रिरी करता था। मैं उसका स्वामी था, परन्तु उसके अस्तित्व से भी परिचित नहीं था— वह इतना सामान्य व्यक्ति था। एकदिन रात्रि में सहसा उसे हैजा

हो गया। अपने शयन-गृह से सुना, वह 'बुआ-बुआ' करके कातर-स्वर में रो रहा था। उस समय सहसा उसका गौरव-हीन क्षुद्र-जीवन मेरे निकट कितना ही वृहत् होकर दिखाई दिया। वह जो एक अज्ञात अख्यात मूर्ख निर्जीव व्यक्ति बैठा-बैठा ईषत् ग्रीवा हिलाकर कलम को खड़ी रख कर पकड़े हुए एकाग्रमन से नकल करता रहता था, उसे उसकी बुआ ने अपने निःसन्तान वैधव्य की समस्त संचित स्नेहराशि देकर पाला था। सन्ध्या के समय श्रान्त शरीर से सूने घर में लौट कर जब वह अपने हाथ से चूल्हा जला कर रसोई चढ़ाता था जब तक भात टग्-बग् करके न फूल उठता, तब तक कम्पित अग्निशिखा की ओर टकटकी लगाकर देखता हुआ वह क्या उसी दूर कुटीरवासिनी, स्नेहशालिनी, कल्याणमयी बुआ की बात नहीं सोचता था। एकदिन जब उसकी नकल में भूल हुई, ठीक मिलान नहीं हुआ, अपने उच्चतन कर्मचारी के निकट वह लान्छित हुआ, उस दिन क्या सुबह की चिट्ठी में क्या उसे अपनी बुआ की बीमारी का समाचार नहीं मिला था। इस नगण्य व्यक्ति की प्रतिदिन की मंगलवार्ता के लिए एक स्नेह-परिपूर्ण पवित्र हृदय में क्या सामान्य उत्कण्ठा थी! इस दरिद्र-युवक के प्रवास-वास के साथ क्या कम करुणा, कातरता का उद्वेग जड़ित हुआ था! सहसा उस रात्रि में यह निर्वाणप्राय क्षुद्र प्राणशिखा एक अमूल्य महिमा से मेरे समीप दीप्तिमान हो उठी। रातभर जग कर उसकी सेवा-सुश्रूषा की, बुआ के धन को बुआ के पास वापिस नहीं भेज सका—मेरे उस अस्थायी मुहर्रिर की मृत्यु हो गई। भीष्म, द्रोण, भीमार्जुन खूब महत् हैं, तथापि इस आदमी का भी मूल्य कम नहीं था। उसका मूल्य किसी कवि ने अनुमान नहीं किया, किसी पाठक ने स्वीकार नहीं किया, इसी कारण वह मूल्य पृथ्वी पर अनाविष्कृत नहीं था, एक जीवन ने स्वयं को उसके लिए एकान्त उत्सर्ग कर दिया था—परन्तु खुराक-पोशाक सहित उस आदमी का वेतन था आठ रुपये, 'वह भी बारहमासी नहीं। महत्त्व अपनी ज्योति से स्वयं ही प्रकाशित हो उठता

है और हम जैसे दीप्तिहीन छोटे-छोटे आदमियों को बाहरी प्रेम के आलोक से प्रकट करना पड़ता है—मुआ के स्नेह द्वारा देखने पर हम लोग सहसा दीप्तिमान हो उठते हैं। जहाँ पर अँधेरे में किसी को देखा नहीं जा सकता, वहाँ प्रेम का प्रकाश फैलाने पर सहसा दिखाई पड़ता है, मनुष्य म परिपूर्ण।'

स्रोतस्विनी ने दया स्निग्ध मुख स कहा, 'तुम्हारे इस विदेशी मुहर्रिर की कथा तुम्हारे द्वारा पहले भी सुनी है। पता नहीं, उसकी कथा को सुनकर मुझे अपने हिन्दुस्तानी बेयरे नौहर की याद आजाती है। सम्प्रति दो शिशु सन्तान छोड़कर उसकी स्त्री मर गई थी। अब भी वह काम-काज करता है दोपहर के समय बैठकर पङ्खा खींचता है, परन्तु ऐसा शुष्क, क्षीण, म्लान, अभागे जैसा हो गया है! उसे जब देखती हूँ, कष्ट होता है—परन्तु वह कष्ट जैसे इस अकेले के लिए नहीं है—मैं ठीक समझ नहीं पा रही, परन्तु लगता है, जैसे सब मनुष्यों के लिए एक वेदना अनुभूत होती रहती है।'

मैंने कहा, 'उसका कारण है, सभी मनुष्य प्रेम करते हैं एव विरह, विच्छेद, मृत्यु के द्वारा पीड़ित और भीत हैं। तुम्हारे इस पखे वाले नौकर के आनन्दहीन विषण्ण मुख पर समस्त पृथ्वीवासी मनुष्यों का विषाद अङ्कित हो गया है।'

स्रोतस्विनी ने कहा, 'केवल इतना ही नहीं। लगता है, पृथ्वी पर जितना दुःख है, उतनी दया कहाँ है। कितने ही दुःख हैं, जहाँ मनुष्य की सान्त्वना किसी भी समय में प्रवेश भी नहीं करती, अथच कितनी ही जगह हैं, जहाँ प्रेम की अनावश्यक अतिवृष्टि हो जाती है। जब देखती हूँ, मेरा यह बेयरा धैर्य के साथ मूकभाव से पङ्खा खींचता जा रहा है, दोनों लड़के बरामदे में लोट-पोट करते हैं, गिर पड़ने पर चिल्लाते हुए रो उठते हैं, पिता मुँह घुमाकर कारण जानने की चेष्टा करता है, पखे को छोड़कर उठकर नहीं जा पाता, जीवन में आनन्द थोड़ा है, अथच पेट की ज्वाला कम नहीं है, जीवन में कितनी ही बड़ी

दुर्घटना घटे, दो मुट्ठी अन्न के लिए नियमित काम चलाना ही होगा, कोई त्रुटि होने पर कोई माफ नही करेगा; जब सोचकर देखती हू, ऐसे असख्य लोग हैं, जिनका दु ख कष्ट, जिनका मनुष्यत्व हमारे समीप जैसे अनाविष्कृत है, जिन्हे हम लोग केवल व्यवहार मे लगाते हैं एव वेतन देते हैं, स्नेह नही देते, सान्त्वना नही देते, श्रद्धा नही देते — तब वास्तव मे ही लगता है, पृथ्वी का बहुत कुछ जैसे निविड अन्धकार मे आवृत है, हमारी दृष्टि से एकदम अगोचर है। परन्तु वे अज्ञातनामा दीप्तिहीन देश के लोग भी प्रेम करते हैं एव प्रेम के योग्य हैं। मुझे लगता है, जिनकी महिमा नही है, जो एक अस्वच्छ आवरण के भीतर बँधकर स्वय को अच्छी तरह से व्यक्त नही कर पाते, यही क्यो, स्वय को भी अच्छी तरह नही पहिचानते, मूक-मुग्धभाव से सुख-दु ख की वेदना को सहते हैं, उन लोगो को मानव-रूप मे प्रकट करना, उन्हे हमारे आत्मीय रूप से परिचित करा देना, उनके ऊपर काव्य के आलोक का निक्षेप करना, हमारे वर्तमान कवियो का कर्त्तव्य है।'

क्षिति ने कहा, 'पूर्वकाल मे एक समय सभी विषयो मे प्रबलता का सम्मान कुछ अधिक था। उस समय मनुष्य-समाज बहुत कुछ असहाय अरक्षित था, जो प्रतिभाशाली थे, जो क्षमताशाली थे, वे ही उन दिनो सब स्थानो पर अधिकार कर लेते थे। अब सभ्यता के सुशासन से सुश्रृंखला से विघ्न-विपत्ति दूर होकर प्रबलता की अत्यधिक मर्यादा का ह्रास हो गया है। अब अशक्त, अक्षम लोग भी ससार के खूब एक बडे अश के भागीदार बन कर खडे हुए हैं। अब के काव्य-उपन्यास भी भीष्म-द्रोण को छोडकर इन सब मूक जातियो की भाषा, इन सब भस्माच्छन्न अङ्गारो के आलोक को प्रकट करने मे प्रवृत्त हुए हैं।'

समीर ने कहा, 'नवोदित साहित्य-सूर्य का आलोक पहले अत्युच्च-पर्वत-शिखर के ऊपर ही पतित हुआ है, अब क्रमश निम्नवर्ती उपत्यका के भीतर प्रसारित होकर क्षुद्र, दरिद्र, कुटियाओं को भी प्रकाशमान कर रहा है।'

मन

इस मध्याह्नकाल म नदी के किनारे देहात के एक एक मंजिले घर मे बैठा हुआ हूँ, छिपकली घर के कोने मे टिक्टिक् कर रही है, दीवाल पर पङ्खा खीचने के छेद के भीतर एक जोड़ा गौरैया पक्षी घोसला तैयार करने के अभिप्राय से बाहर से घास-पुआल सग्रह करके चिच्‌मिच् शब्द से महाव्यस्तभाव स क्रमश यातायात कर रह हैं, नदी के बीच नावें बहती चली जारही हैं ऊँचे तट के अन्तराल से नीलाकाश मे उनके मस्तूल एव खुले पालों का कुछ अश दिखाई पड रहा है, वायु स्निग्ध है, आकाश स्वच्छ है, दूसरे किनारे की अति दूरवर्ती तीर-रेखा से और मेरे बरामदे के सामने वाले बेडे से घिरे छोटे बगीचे तक उज्ज्वल धूप से एक खण्ड तस्वीर जैसा दिखाई द रहा है—यह तो खूब ही है। माँ की गोद के भीतर सन्तान जिस तरह एक उत्ताप, एक आराम, एक स्नेह पाती है, उसी तरह इस प्राचीन प्रकृति की गोद मे सटते हुए बैठकर एक जीवन पूर्ण, आदरपूर्ण मृदु उत्ताप चारो ओर से मेरे सर्वाङ्ग मे प्रवेश कर रहा है। तो इसी भाव मे बने रहने से हानि क्या है। कागज-कलम लेकर बैठने के लिए तुम्हें कौन उकसा रहा है। जिस विषय में तुम्हारा क्या मत है जिसमे तुम्हारी सम्मति अथवा असम्मति है, उस बात को लेकर हठात् धूमधाम करके कमर बाँधकर बैठने की क्या आवश्यकता थी। यह देखो, मैदान के बीच, कहीं भी कुछ नहीं है, एक चक्कर काटती हुई हवा, थोडी सी धूलि एव सूखे पत्तों की ओढनी उड़ाकर किस चमत्कार भाव से घूमती नाचती चली गई।

पादांगुलि मात्र के ऊपर बोझ डालकर, दीर्घ सरल होकर किस भङ्गिमा से क्षण-भर खडी रही उसके बाद हुग्हास् करके सब कुछ उडाउड़कर कहाँ चली गई, इसका ठिकाना ही नही है। सम्बल तो भारी है। थोडी सी घास-पात धूलि-बालू सुविधानुसार जो हाथ के समीप आई उसी को लेकर एक विशेष भावभङ्गी करके किस तरह से एक खेल खेल लिया। इसी तरह से जन-हीन मध्याह्न मे सम्पूर्ण मैदान मे नाचती फिरती है। नही है उसका कोई उद्देश्य, नही है उसका कोई दर्शक, नही है उसका मत, नही है उसका तत्व, नही है समाज एव इतिहास के सम्बन्ध मे अति समीचीन उपदेश-पृथ्वी पर जो कुछ भी सबकी अपेक्षा अनावश्यक है, उन सब विस्मृत, परित्यक्त पदार्थों के भीतर एक उत्तप्त फूत्कार देकर उन्हें क्षण भर के लिए जीवित-जागृत-सुन्दर बना देती है।

इसी तरह यदि अत्यन्त सरलता से एक नि श्वास मे कितने ही जिस-तिस को खडा करके, सुन्दर बनाकर, घूम कर, उडाकर, लट्टू खिलाकर चला जा पाता ! इसी तरह अवलीलाक्रम से सृजन करता, इसी तरह फूँक मारकर तोड डालता। चिन्ता नहीं, लक्ष्य नहीं, केवल एक नृत्य का आनन्द, केवल एक सौंदर्य का आवेग, केवल एक जीवन की परिक्रमा मुक्त प्रान्तर, अनावृत आकाश, परिव्याप्त सूर्यलोक-उसी के भीतर मुट्ठी-मुट्ठी धूल लेकर इन्द्रजाल बनाना, वह भी केवल पागल-हृदय के उदार उल्लास से।

ऐसा हो तो समझ मे आ सकता है। परन्तु बैठे-बैठे पत्थर के ऊपर पत्थर रखकर, पसीने से तरबतर होकर कितने निश्चित मतामत ऊँचे उठाये गए हैं ! उनके भीतर न गति है, न प्रीति है, न प्राण है। केवल एक कठोर कीर्ति है। उसे कोई आश्चर्य से देखता है, कोई पांव से ठेलता है—योग्यता जैसी भी रहे।

परन्तु इच्छा करके भी हम काम से विरत कहाँ हो पाते हैं। सभ्यता की खातिर मनुष्य ने 'मन' नामक अपने एक अश को अपरिमित

प्रश्रय देकर अत्यन्त बढ़ावा दे रक्खा है, अब तुम यदि उसे छोड़ना चाहो तो वह तुम्हें नहीं छोड़ेगा।

लिखते-लिखते मैं बाहर दृष्टि उठाकर देख रहा हूँ, यह एक आदमी धूप से बचने के लिए सिर पर एक चादर डाले हुए दाँये हाथ में कमल के पत्ते के दोने में थोड़ा सा दही लेकर रसोईघर की ओर जारहा है। वह मेरा नौकर है, नाम है नारायणसिंह। खूब हृष्ट-पुष्ट, निश्चिन्त प्रफुल्ल चित्त है। उपयुक्त सारप्राप्त पर्याप्त पल्लवपूर्ण मसृण चिक्कण कटहल के वृक्ष की तरह। इस तरह का मनुष्य इस बहि प्रकृति के साथ ठीक मेल खाता है। प्रकृति एवम् इसके बीच कोई बड़ा विच्छेद चिह्न नहीं है। इस जीवधात्री, शस्य शालिनी, बृहत् वसुधरा के अङ्क से सलग्न होकर यह आदमी बड़ी सरलता से निवास करता है, इसे स्वय के भीतर स्वय का तिल भर विरोध, विसम्वाद नहीं है। यह वृक्ष जिस तरह जड़ से लेकर पल्लवाग्र तक केवल एक सीताफल का वृक्ष हो उठा है, उसे और किसी के लिए कोई सिरदर्द नहीं है, मेरा हृष्ट-पुष्ट नारायणसिंह भी उसी तरह आद्योपान्त केवलमात्र एक अखण्ड नारायणसिंह है।

कोई कौतुक प्रिय शिशु-देवता यदि दुष्टता करके इस सीताफल के वृक्ष के भीतर केवल एक छोटा सा मन डाल दे, तब इस सरल, श्यामल दास-जीवन के भीतर कोई एक विषम उपद्रव खड़ा हो जायगा। उस समय चिन्ता से उसके चिक्कन हरे पत्ते भोजपत्र की तरह पाण्डुवर्ण हो उठेंगे, एवम् जड़ से लेकर प्रशाखाओं तक यह वृक्ष के ललाट की भाँति कुचित हो जायगा। तब बसन्तकाल में क्या फिर इसी तरह दो-चार दिनों के भीतर सर्वाङ्ग कोंपलों से पुलकित हो उठेगा, वर्षा की समाप्ति पर इन गोलीदार गोल-गोल गुच्छे के गुच्छे फलों से प्रत्येक डाली क्या फिर से भर जाएगी। उस समय दिन भर एक पाँव के ऊपर खड़ा-खड़ा सोचता रहेगा, 'मुझमें केवल कितने ही पत्ते क्यों हुए पङ्ख क्यों नहीं हुए। प्राणपण से सीधा होकर इतना ऊँचा बनकर खड़ा हुआ

हू, फिर भी यथेष्ट परिमाण मे देख क्यो नही पाता हूँ। इस दिगन्त के उस पार क्या है, इस आकाश के तारे जिस वृक्ष की शाखाओ पर खिल रहे हैं उस वृक्ष का पता किस तरह पाऊँगा। मैं कहाँ से आया हूँ, कहाँ जाऊँगा, यह बात जब तक स्थिर नही होगी तब तक मैं पत्ते भरा कर, डाली सुखाकर, काठ होकर खडा हुआ ध्यान करता रहूँगा। मैं हूँ या मैं नही हूँ अथवा मैं हू भी और नही भी हूँ, इस प्रश्न की जब तक मीमांसा नही होती, तब तक मेरे जीवन मे कोई सुख नहीं है। दीर्घ वर्षा के बाद जिस दिन प्रात काल मे प्रथम सूर्य निकलता है, उस दिन मेरी मज्जा के भीतर जिस एक पुलक का सचार होता है, उसे मैं ठीक किस तरह से प्रकट करूँ, एवम् शीत की समाप्ति पर फाल्गुन के बीचो बीच जिस हठ त् सायकाल म एक दक्षिणी हवा उठती है उस दिन इच्छा होती है—क्या इच्छा होती है, इसे कौन मुझे समझा देगा!'

यही सब काण्ड है! गया बेचारे का फूल खिलाना, रस शस्य-पूर्ण सीताफल पकाना। जो है, उसकी अपना अधिक होने की चेष्टा करके, जिस तरह का है उससे दूसरी तरह का बनने की इच्छा करके, न इधर का रहा जाता है, न उधर का रहा जाता है। अन्त मे एक दिन हठात् अन्तर्वेदना से जड से अगली शाखा तक विदीर्ण होकर बाहर हो जाता है—एक सामयिक पत्र का लेख, एक समालोचना, अरण्य-समाज के बारे मे एक असामयिक तत्वोपदेश। उसके भीतर नहीं रहता है वह पल्लव मर्मर, न रहती है वह छाया, नहीं रहती है सर्वाङ्ग व्याप्त सरस सम्पूर्णता।

यदि कोई प्रबल शैतान सरीसृपकी भाँति छिपकर मिट्टी के नीचे प्रवेश करके शतशत टेढ़ी-मेढ़ी जडों के भीतर होकर पृथ्वी के समस्त तरु-लता-गुल्म के भीतर मन सञ्चार करदे, तो वैसा होने पर पृथ्वी पर शुश होने का स्थान कहाँ रहेगा! भाग्य से ही बगीचे मे आकर पत्तियों के शब्द के भीतर कोई अर्थ नहीं मिल पाता एव अक्षर-हीन, हरे पत्तों के बदले डालो-डालो पर शुष्क श्वेतवर्ण मासिक पत्र, समाचार पत्र

एवम् विज्ञापन लटकते हुए नहीं दीख पड़ते ।

भाग्य से ही वृक्षों मे चिन्ताशीलता नही है । भाग्य से ही धतूरे का पौधा कामिनी के पौधे की समालोचना करता हुआ नहीं कहता कि 'तुम अपने को बडा समझते हो, परन्तु मैं तुम्हारी अपेक्षा कुष्माण्ड को बहुत ऊँचा आसन देता हूँ ।' केला नही कहता कि 'मैं सबकी अपेक्षा कम मूल्य मे सबकी अपेक्षा बड़े पत्तो का प्रचार करता हू एवम् अरवी (घुइयाँ) उससे प्रतियोगिता करके उसकी अपेक्षा सुलभ मूल्य मे उसकी अपेक्षा बड़े पत्तो की तैयारी नही करती !

तर्क-ताड़ित, चिन्ता, तापित, वक्तृता-श्रान्त मनुष्य उदार-उन्मुक्त आकाश के चिन्ता-रेखा-हीन ज्योतिर्मय प्रशस्त ललाट को देखकर, अरण्य के भाषा-हीन मर्मर और तरङ्ग की अर्थ-हीन कलध्वनि को सुनकर इस मनोविहीन अगाध प्रशान्त प्रकृति के भीतर अवगाहन करके ही बहुत कुछ स्निग्ध और सयत हो पाया है । यह थोड़े से मन स्फुलिङ्ग के दाह को निवृत्त करने के लिए इस अनन्त-प्रसारित अमन-समुद्र की प्रशान्त नीलाम्बुराशि के लिए आवश्यक बन गया है ।

असल बात पहले ही कह चुका हू हमारे भीतर के समस्त सामजस्य को नष्ट करके हमारा मन अत्यन्त वृहद हो गया है । उसे कहीं भी किनारो मे बांधकर नही रखा जा सकता । खाने के लिए पहिनने के लिए, जीवन धारण करने के लिए सुख स्वच्छन्दता से रहने के लिए जितना कुछ आवश्यक है, मन उसकी अपेक्षा बहुत अधिक बड़ा होगया है । इसीलिए सब आवश्यक कार्यों को समाप्त कर डालने पर भी, चारो ओर बहुत कुछ मन बाकी रह जाता है । बिना बात के ही वह बैठा-बैठा डायरी लिखता है, तर्क करता है, समाचार पत्र का सम्पाददाता बनता है, जिसे सरलता से समझा जा सकता है, उसे कठिन बना देता है, जिसे एक भाव से समझना उचित है, उसे दूसरे भाव मे खड़ा कर देता है । जिसे किसी भी काल में किसी तरह भी समझा नहीं जा सकता, अन्य सबको छोड़कर उसी को लेकर ही लगा रहता है, यही क्यों, इन

सबकी अपेक्षा भी अनेक गुरुतर गर्हित काम करता है।

परन्तु, मेरे इस अनतिसभ्य नारायणसिंह का मन उसके शरीर के माप में है; उसकी आवश्यकता के अङ्ग-अङ्ग से ठीक फिट होकर लगा हुआ है। उसका मन उसके जीवन की शीत-आतप, असुख, अस्वास्थ्य, एवं लज्जा से रक्षा करता है, परन्तु जब-तब उनचास पवन के वेग से चारों ओर उड़-उड़ नहीं करता। एक आध बटन के छिद्र में होकर बाहर से चोरी की हवा उसके मानस-आवरण के भीतर प्रवेश करके उसे कभी भी थोड़ा-बहुत स्फीत नहीं कर देती, यह तो नहीं कह सकता, परन्तु उतना मन-चांचल्य उसके जीवन के स्वास्थ्य के लिए ही आवश्यक है।

समस्या

हमारे देश की सबसे अधिक बड़ी समस्या क्या है, थोड़े दिन हुए विधाता ने उसके प्रति हमारी समस्त चेतना को आकर्षित किया था। हमने उस दिन सोचा था, पार्टीशन–व्यापार (साझे का व्यापार) में हम लोग जो अत्यन्त क्षुण्ण हो गए हैं, इसे अंग्रेज को दिखायेंगे, हम लोग विलायती नमक से सम्बन्ध तोड़ेंगे एवं देश के विलायती–वस्त्रों का हरण किये बिना जल–ग्रहण नहीं करेंगे। पराये के साथ युद्ध-घोषणा जैसे ही की, वैसे ही घर के भीतर एक ऐसा फसाद उठ खड़ा हुआ कि ऐसा और कभी नहीं देखा जा सकता। हिन्दू-मुसलमान का विरोध हठात् अत्यन्त मर्मान्तिक रूप में वीभत्स हो उठा।

यह मामला हमारे लिए कितना ही एकान्त कष्टकर हो, परन्तु हमें सम्पूर्ण निश्चित रूप से जान लेना आवश्यक था, आज भी हमारे देश में हिन्दू और मुसलमान अलग हैं, इस वास्तविकता को भुलाकर हम लोग कोई भी काम करने को क्यों न चलें, यह वास्तविकता हमसे कभी भी विस्मृत नहीं होगी। यह बात कह कर स्वयं को भुलावे में रखने से नहीं चलेगा कि हिन्दू-मुसलमान के सम्बन्धों के बीच कोई पाप ही नहीं था, अंग्रेजों ने ही मुसलमानों को हमारे विरुद्ध कर दिया है।

इसके साथ ही एक बात विशेष रूप से याद रखनी होगी कि हिन्दू और मुसलमान, अथवा हिन्दुओं के भीतर भिन्न-भिन्न विभाग अथवा उच्च और नीच वर्ण के बीच मिलन हुए बिना हमारे काम में

व्याघात हो रहा है, अतएव किसी भी तरह मिलन-साधन करके हम लोग शक्ति प्राप्त करेंगे—यह बात ही सबसे अधिक बड़ी बात नही है, सुतरां यही सबसे अधिक सत्य बात नही है ।

केवलमात्र प्रयोजन-साधन का सुयोग, केवलमात्र सुव्यवस्था की अपेक्षा बहुत अधिक न होने पर मनुष्य के प्राण नही बचते । यीशु कह गए हैं, मनुष्य केवलमात्र रोटी के द्वारा जीवन-धारण नहीं करता; उसका कारण है, मनुष्य का केवल शरीर-जीवन नही है ।

यह जो वृहद् जीवन का खाद्यभाव है, यह यदि केवल बाहर से ही, अंग्रेज-शासन होने से ही घटता, तब तो किसी तरह बाहर का संशोधन कर लेने से ही हमारा काम पूरा हो जाता । हमारे स्वय के अन्तःपुर की व्यवस्था मे भी दीर्घकाल से यह उपवास का व्यापार चला आरहा है । हम हिंदू और मुसलमान, हम भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रदेशीय हिंदू जाति एक जगह रहते अवश्य हैं, परन्तु मनुष्य मनुष्य को रोटी की अपेक्षा जिस उच्चतर खाद्य या सग्रह करके शक्ति से, आनन्द से परिपुष्ट कर रहा है, हम एक दूसरे को उसी खाद्य से वंचित करते चले आ रहे हैं । हमारी समस्त हृदय वृत्ति, समस्त हित-चेष्टा परिवार और वंश के भीतर एवं एक एक संकीर्ण समाज के भीतर इतने अतिशय परिमाण मे निबद्ध हो पड़ी है कि साधारण मनुष्य के साथ साधारण आत्मीयता का जो वृहद् सम्बन्ध है, उसे स्वीकार करने का सम्बल हम लोगों ने तनिक भी उद्वृत्त नहीं रक्खा है । इसी कारण हम लोग द्वीप-पुंज की तरह ही खण्ड-खण्ड होते आ रहे हैं, महादेश की तरह व्याप्त, विस्तृत और एक होकर नहीं उठ पा रहे हैं ।

प्रत्येक क्षुद्र मनुष्य वृहद् मनुष्य के साथ अपना ऐक्य अनेक मङ्गलों के द्वारा अनेक आकारों में उपलब्ध करता रहेगा । यह उपलब्धि उसके किसी विशेष कार्य की सिद्धि के उपाय के रूप मे ही गौरवपूर्ण नही है, यह उसकी प्राण है, यही उसका मनुष्यत्व अर्थात् उसका धर्म है । इस धर्म से वह जिस परिमाण में वंचित होता है, उसी परिमाण में

वह शुष्क होना है। अपने दुर्भाग्यक्रम से बहुत-दिनों से भारतवर्ष में हम इस शुष्कता को प्रश्रय देते आ रहे हैं। हमारे ज्ञान, कर्म आचार-व्यवहार के हैं, हमारे सब प्रकार के आदान-प्रदान के बड़े-बड़े राजपथ एक एक करके छोटी-छोटी मण्डली के सामने आकर खण्डित हो गए हैं, हमारे हृदय और चेष्टायें प्रधानत हमारे अपने घर और अपने गाँव के भीतर ही घूमते फिरे हैं, उन्हें विश्व-मानव के सम्मुख स्वयं को उद्घाटित कर देने का अवसर नहीं मिला है। इसी कारण हमने पारिवारिक आराम पाया है, क्षुद्र समाज की सहायता पाई है, परन्तु बृहद् मनुष्य की शक्ति और सम्पूर्णता से हम लोग बहुत दिनों से वंचित होकर दीन हीन की भांति रह रहे हैं।

इस प्रकाण्ड अभाव को पूरा करने का उपाय हम अपने भीतर से ही यदि यदि न निकाल सके तो बाहर से उसे पायेंगे ही किस तरह। अंग्रेजों के चले जाने पर ही हमारा यह छिद्र भर जायगा, हम लोग यह कल्पना क्यों करते हैं। हम लोग जो एक दूसरे की श्रद्धा नहीं करते, सहायता नहीं करते, हम लोग जो एक दूसरे को पहिचानने तक की चेष्टा नहीं करते हम लोग जो अबतक 'घर से आँगना विदेश' करके बैठे हुए हैं—एक दूसरे के सम्बन्ध में हमारी यही उदासीन अवज्ञा, यही विरोध हम लोगों को एकदम ही मिटा देना होगा, यह क्या केवल विलायती कपड़े त्याग देने की सुविधा होने पर ही होगा, यह क्या केवल मात्र अंग्रेज-पक्ष के निकट अपनी शक्ति का प्रचार करने के उद्देश्य से है। ऐसा न होने से हमारा धर्म पीड़ित हो रहा है, हमारा मनुष्यत्व संकुचित हो रहा है; ऐसा न होने से हमारी बुद्धि संकीर्ण हो जायगी, हमारे ज्ञान का विकास नहीं होगा, हमारा दुर्बल चित्त शत-शत अन्ध संस्कारों से जड़ित बना रहेगा, हम अपने अन्तर-बाहर के समस्त अधीनता के बन्धन तोड़कर निर्भय, निस्संकोच विश्व-समाज के बीच सिर नहीं उठा सकेंगे। उस निर्भीक, निर्बाध, विपुल मनुष्यत्व के अधिकारी बनने के लिए ही हम लोगों को एक दूसरे के साथ एक दूसरे के धर्म के

बन्धन मे बांधना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त मनुष्य किसी तरह भी बडा नही हो सकता, किसी तरह भी सत्य नही हो सकता। भारतवर्ष मे जो कोई है, जो कोई आया है। सभी को लेकर हम लोग सम्पूर्ण होंगे-भारतवर्ष में विश्व-मानव की एक प्रकाण्ड समस्या की मीमांसा होगी। वह समस्या यही है कि पृथ्वी पर मनुष्य वर्ण, भाषा, स्वभाव, आचरण, धर्म मे विचित्र है-नरदेवता इस विचित्र को लेकर ही विराट है-उस विचित्र को हम लोग इस भारतवर्ष के मन्दिर मे एकाङ्ग करके देखेंगे। पार्थक्य को निर्वासित अथवा विलुप्त करके नही, परन्तु सर्वत्र ब्रह्म की उदार उपलब्धि द्वारा, मानव के प्रति सर्व-सहिष्णु परम प्रेम के द्वारा, उच्च-नीच, आत्मीय पर सभी की सेवा मे भगवान की सेवा स्वीकार करके और कुछ नही, शुभचेष्टा के द्वारा देश को विजय कर लो—जो लोग तुम पर सन्देह करें, उनके सन्देह को जीत लो—जो लोग तुम्हारे प्रति विद्वेष करें उनके विद्वेष को परास्त करो। बन्द द्वार पर आघात करो, बारम्बार आघात करो—किसी नैराश्य, किसी आत्माभिमान की क्षुण्णता मे मत लौट जाना; मनुष्य का हृदय मनुष्य के हृदय को चिरकाल तक कभी भी प्रत्याख्यान नहीं कर सकेगा।

भारतवर्ष के आह्वान ने हमारे अन्त:करण को स्पर्श किया है। हमारे निकट जो आह्वान आया है, उसके द्वारा सम्पूर्ण सकीर्णता के अन्तराल से स्वय को बाहर निकालेंगे—भारतवर्ष मे इस बार मनुष्य की ओर मनुष्य का खिचाव पड़ा है। इस बार, जहां पर जिसका कोई अभाव है, उसे पूरा करने के लिए हम लोगों को जाना होगा; अन्न, स्वास्थ्य और शिक्षा का वितरण करने के लिए हमे निभृत गांव के कोने मे अपना जीवन उत्सर्ग करना होगा; हम लोगों को अन्य कोई भी अपने स्वार्थ और स्वच्छन्दता के भीतर पकड़कर नहीं रख सकेगा। बहुत दिनों की शुष्कता और अनावृष्टि के बाद वर्षा जब आती है, तब वह आंधी लेकर ही आती है, परन्तु नव-वर्षा की वह आरम्भकालीन आंधी ही नवीन आविर्भाव का सबसे अधिक बड़ा अङ्ग नहीं है, वह स्थायी भी नही है।

विद्युत् की चचलता और वज्र की गर्जन एवं वायु की उन्मत्तता स्वय ही शांत हो आएगी–उस समय बादल–बादल में जोड़ लगकर आकाश के पूर्व पश्चिम स्निग्धता से आवृत्त हो जायेंगे, चारों ओर धारावृष्टि होकर तृषित के पात्र मे पानी भर जायगा एवं क्षुधित के खेत मे अन्न की आशा अकुरित होकर दोनो आखों को शीतल कर देगी। मङ्गल से परिपूर्ण वह विचित्र सफलता का दिन बहुत दिनों की प्रतीक्षा के बाद आज भारतवर्ष में दिखाई दिया है, इस बात को निश्चित जानकार हम लोग आनन्द मे प्रस्तुत हों। किसके लिए। घर छोड़कर खेत मे उतरने के लिये, जमीन जोतने के लिए, बीज बोने के लिए, उसके बाद सोने की फसल मे जब लक्ष्मी का आविर्भाव होगा, तब उस लक्ष्मी को घर मे लाकर नित्योत्सव की प्रतिष्ठा करने के लिए।

पागल

पश्चिम का एक छोटा शहर। सामने बड़ी सड़क के उस पार लँगड़े छप्परों के ऊपर पाँच–छँ ताड के पेड गूँगे के इशारे की तरह आकाश में उठे हुए हैं, एवं टूटे मकान के किनारे पुराना इमली का पेड अपने लघु चिक्कण घन पल्लवभार को हरे बादल की भाँति ढेर के ढेर की तरह स्फीत किए हुए है। छप्पर-हीन टूटी दीवाल के ऊपर बकरी का बच्चा चर रहा है, पीछे मध्याह्न आकाश की दिगन्तरेखा तक वन-श्रेणी की श्यामलता है।

आज इस शहर के मस्तक के ऊपर से वर्षा ने हठात् अपने काले अवगुण्ठन को एकदम हटा दिया है।

मुझे बहुत सी जरूरी लिखा-पढ़ी करनी है—वह पड़ी ही रही। जानता हूँ कि यह भविष्य में परिताप का कारण होगी; सो हो, उसे स्वीकार कर लेना होगा। पूर्णता कौनसा रूप धर कर हठात् कब अपना आभास दे जाय, इसे तो पहले से ही कोई जानकर प्रस्तुत नहीं रह सकता; परन्तु जब वह दिखाई दी, तब उसकी केवल हाथ जोड़ कर अभ्यर्थना नहीं की जा सकती। उस समय लाभ-हानि की चर्चा जो कर सकता है, वह खूब हिसाबी आदमी है, संसार में उसकी उन्नति हो सकती है; परन्तु हे निविड़ आषाढ़ के बीच एक दिन के ज्योतिर्मय अवकाश, तुम्हारे शुभ्रमेघमाल्य खचित क्षणिक अभ्युदय के निकट अपने सब जरूरी कामों को मैंने मिट्टी कर दिया है—आज मैंने भविष्य का हिसाब नहीं

किया, आज मैं वर्तमान के समीप बिक गया हूँ।

दिन के बाद दिन आते हैं; मेरे समीप वे कुछ भी दावा नहीं करते, उस समय हिसाब के अङ्क में भूल नहीं होती, उस समय सभी काम सरलतापूर्वक किये जा सकते हैं। जीवन उस समय एक दिन के साथ दूसरे दिन, एक काम के साथ दूसरे काम को अच्छी तरह गूँथ-गूँथ कर आगे बढ़ता है, सभी वेश समानभाव से चलते रहते हैं। परन्तु हठात् कोई खबर दिये बिना एक विशेष दिन सात समुद्र पार के राजपुत्र की तरह आ उपस्थित होता है, प्रतिदिन के साथ उसका कोई मेल नहीं होता। उस समय क्षणभर में इतने दिनों का सब सिरा खो जाता है, उस समय बँधे हुए काम के विषय में बड़ी मुश्किल पड़ती है।

परन्तु यह दिन ही हमारा बड़ा दिन है; यही अनियम का दिन है, यह काम नष्ट करने का दिन है। जो दिन आकर हमारे प्रतिदिन को विपर्यस्त कर देता है, वहीदिन हमारा आनन्द है। अन्य सभी दिन बुद्धिमान के दिन हैं, सावधान के दिन हैं—और कोई-कोई दिन पूरे पागलपन के समीप सम्पूर्णभाव से उत्सर्ग होने वाला होता है।

पागल शब्द हमारे निकट घृणा का शब्द नहीं है। विक्षिप्त 'निमाई' को हमलोग 'विक्षिप्त' कह कर ही भक्ति करते हैं—हमारे विक्षिप्त देवता महेश्वर हैं। प्रतिभा विक्षिप्तता का एक तरह से विकास है या नहीं, इस बात को लेकर यूरोप में वादानुवाद चल रहा है—परन्तु हम लोग इस बात को स्वीकार करने में कुण्ठित नहीं होते। प्रतिभा विक्षिप्तता ही है, वह नियम का व्यतिक्रम है, वह उलट-पुलट करने के लिए ही आती है—वह आज-कल के ऊट-पटांग, सृष्टि-हीन दिनों की भाँति हठात् आकर सभी कामकाजी लोगों के काम को नष्ट कर जाती है—कोई तो उसे गाली देता रहता है, कोई उसे लेकर नाचता कूदता हुआ अस्थिर हो उठता है।

भोलानाथ, जो हमारे शास्त्र में आनन्दमय हैं, वे सब देवताओं

: ऐसे ही ऊट-पटांग हैं। उस पागल दिगम्बर को मैं आज के इस धौत नीलाकाश के रौद्रप्लावन के भीतर देख रहा हूं। इस निविडमध्याह्न के हृत्पिण्ड के भीतर उनका डिम-डिम डमरू बज रहा है। आज मृत्यु की नग्न शुभ्रमूर्ति इस कर्म निरत ससार के बीच कैसी निस्तब्ध होकर खडी है।

भोलानाथ, मैं जानता हूँ, तुम अद्भुत हो। जीवन मे क्षण-क्षण पर अद्भुत रूप में ही तुम अपनी भिक्षा की झोली लेकर खडे हुए हो। एकदम हिसाब-किताब को नेस्तनाबूद कर दिया है। तुम्हारे नन्दी-भृङ्गी के साथ मेरा परिचय है। आज वे लोग तुम्हारी भग के प्रसाद की एक बूँद भी मुझे नही देते, इसे नही कह सकता—इससे मुझे नशा चढ आया है, सब कुछ निष्फल हो गया है, आज मेरा कुछ भी व्यवस्थित नही है।

मैं जानता हूँ, सुख प्रतिदिन की सामग्री है, आनन्द प्रत्यह केअतीत है सुख शरीर पर कही धूल न लग जाय' इसलिए सकुचित है, आनन्द धूल मे लोटपोट कर निखिल के साथ अपने व्यवधान को चूर-चूर कर देता है; इसीलिए सुख के पक्ष मे धूलि हेय है, आनन्द के पक्ष मे धूलि भूषण है। सुख 'कही कुछ खो न जाय यह सोचकर डरता है,आनन्द यथासर्वस्व को वितरण करके परितृप्त है; इसीलिये सुख के पक्ष मे रिक्तता दारिद्रय है आनन्द के पक्ष मे दारिद्रय ही ऐश्वर्य है। सुख व्यवस्था के बन्धन के भीतर अपनी श्री तक की सतर्क भाव से रक्षा करता है, आनन्द सहार की युक्ति के भीतर अपने सौन्दर्य को उदार भाव से प्रकाशित करता है; इसीलिए सुख बाहर के नियम मे बँधा है, आनन्द उस बन्धन को तोड-कर अपने नियम की स्वय ही सृष्टि करता है। सुख अमृत तक के लिए ताकता बैठा रहता है, आनन्द दु:ख के विष को अनायास ही पचा डालता है; इसलिए केवल अच्छाई की ओर ही सुख का पक्षपात है और आनन्द के लिए भले-बुरे दोनों ही समान हैं।

इस सृष्टि मे एक पागल है, जो कुछ अभावनीय है, उसे साम-

दिया, आज मैं वर्तमान के समीप बिक गया हूँ।

दिन के बाद दिन आते हैं; मेरे समीप वे कुछ भी दावा नहीं करते, उस समय हिसाब के अङ्क में भूल नहीं होती, उस समय सभी काम सरलतापूर्वक किये जा सकते हैं। जीवन उस समय एक दिन के साथ दूसरे दिन, एक काम के साथ दूसरे काम को अच्छी तरह गूँथ-गूँथ कर आगे बढ़ता है, सभी वेश समानभाव से चलते रहते हैं। परन्तु हठात् कोई खबर दिये बिना एक विशेष दिन सात समुद्र पार के राजपुत्र की तरह आ उपस्थित होता है, प्रतिदिन के साथ उसका कोई मेल नहीं होता। उस समय क्षणभर में इतने दिनों का सब सिरा खो जाता है, उस समय बँधे हुए काम के विषय में बड़ी मुश्किल पड़ती है।

परन्तु यह दिन ही हमारा बड़ा दिन है; यही अनियम का दिन है, यह काम नष्ट करने का दिन है। जो दिन आकर हमारे प्रतिदिन को विपर्यस्त कर देता है, वहीदिन हमारा आनन्द है। अन्य सभी दिन बुद्धिमान के दिन हैं, सावधान के दिन हैं—और कोई-कोई दिन पूरे पागलपन के समीप सम्पूर्णभाव से उत्सर्ग होने वाला होता है।

पागल शब्द हमारे निकट घृणा का शब्द नहीं है। विक्षिप्त 'निमाई' को हमलोग 'विक्षिप्त' कह कर ही भक्ति करते हैं—हमारे विक्षिप्त देवता महेश्वर हैं। प्रतिभा विक्षिप्तता का एक तरह से विकास है या नहीं, इस बात को लेकर यूरोप में वादानुवाद चल रहा है—परन्तु हम लोग इस बात को स्वीकार करने में कुण्ठित नहीं होते। प्रतिभा विक्षिप्तता ही है, वह नियम का व्यतिक्रम है, वह उलट-पुलट करने के लिए ही आती है-वह आज-कल के ऊट-पटांग, सृष्टि-हीन दिनों की भाँति हठात् आकर सभी कामकाजी लोगों के काम को नष्ट कर जाती है-कोई तो उसे गाली देता रहता है, कोई उसे लेकर नाचता कूदता हुआ अस्थिर हो उठता है।

भोलानाथ, जो हमारे शास्त्र में आनन्दमय हैं, वे सब देवताओं

मे ऐसे ही ऊट-पटांग हैं। उस पागल दिगम्बर को मैं आज के इस धौत नीलाकाश के रौद्रप्लावन के भीतर देख रहा हूँ। इस निविडमध्याह्न के हृत्पिण्ड के भीतर उनका डिम डिम डमरू बज रहा है। आज मृत्यु की नग्न शुभ्रमूर्ति इस कर्म निरत ससार के बीच कैसी निस्तब्ध होकर खडी है।

भोलानाथ, मैं जानता हूँ, तुम अद्भुत हो। जीवन मे क्षण-क्षण पर अद्भुत रूप मे ही तुम अपनी भिक्षा की झोली लेकर खडे हुए हो। एकदम हिसाब-किताब को नेस्तनाबूद कर दिया है। तुम्हारे नन्दी-भृङ्गी के साथ मेरा परिचय है। आज वे लोग तुम्हारी भग के प्रसाद की एक बूँद भी मुझे नहीं देते, इसे नही कह सकता—इससे मुझे नशा चढ आया है सब कुछ निष्फल हो गया है, आज मेरा कुछ भी व्यवस्थित नहीं है।

मैं जानता हूँ, सुख प्रतिदिन की सामग्री है, आनन्द प्रत्यह के अतीत है सुख शरीर पर वही धूल न लग जाय' इसलिए सकुचित है आनन्द धूल मे लोटपोट कर निखिल के साथ अपने व्यवधान को चूर-चूर कर देता है, इसीलिए सुख के पक्ष मे धूलि हेय है, आनन्द के पक्ष मे धूलि भूषण है। सुख 'कहीं कुछ खो न जाय यह सोचकर डरता है,आनन्द यथासर्वस्व को वितरण करके परितृप्त है, इसीलिये सुख के पक्ष मे रिक्तता दारिद्रय है आनन्द के पक्ष मे दारिद्रय ही ऐश्वर्य है। सुख व्यवस्था के बन्धन के भीतर अपनी श्री तक की सतर्क भाव से रक्षा करता है, आनन्द सहार की युक्ति के भीतर अपने सौन्दर्य को उदार भाव से प्रकाशित करता है; इसीलिए सुख बाहर के नियम मे बँधा है, आनन्द उस बन्धन को तोडकर अपने नियम की स्वय ही सृष्टि करता है। सुख अमृत तक के लिए ताकता बैठा रहता है, आनन्द दुःख के विष को अनायास ही पचा डालता है, इसलिए केवल अच्छाई की ओर ही सुख का पक्षपात है और आनन्द के लिए भले-बुरे दोनो ही समान हैं।

इस सृष्टि में एक पागल है, जो कुछ अभावनीय है, उसे साम-

स्वाह वे ही लाकर उपस्थित कर देते हैं। वे केन्द्रातिग हैं, 'सेन्ट्रिफ्युगल वे केवल निखिल को नियम के बाहर की ओर ही खींचते रहते हैं नियम के देवता ससार के सम्पूर्ण पथ को परिपूर्ण चक्रपथ बना देने की चेष्टा करते हैं और ये पागल उसे आक्षिप्त करके, कुण्डली के आकार का बनाते रहते हैं। ये पागल अपने खयाल से सरीसृप के वश में पक्षी और वानर के वश मे मनुष्य को उद्भावित करते रहते हैं। जो हो चुका है, जो है, उसी की चिर स्थायी रूप से रक्षा करने के लिए ससार की एक विषम चेष्टा रही है—ये उसे क्षार क्षार करके, जो नहीं है, उसी के लिए मार्ग बनाते रहते हैं। इनके हाथ मे वशी नहीं है, सामजस्य का सुर इनका नहीं है, इनके मुख से विषाण बज उठता है, विधि विहित यज्ञ नष्ट हो जाता है और कहीं से एक अपूर्वता उडती हुई आकर घेर बैठती है। पागल भी उन्हीं की कीर्ति है और प्रतिभा भी इन्हीं की कीर्ति है। इनके खिचाव से जिसका तार टूट जाता है वह होता है उन्माद और जिसका तार अश्रुतपूर्व सुर मे बज उठता है, वह हो जाता है प्रतिभावान। पागल भी दस आदमियों से बाहर है, प्रतिभावान भी वही है—परन्तु पागल बाहर ही ठहर जाता है और प्रतिभावान दस को ग्यारह के कोठे में लाकर दस के अधिकार को बढ़ा देता है।

केवल पागल नहीं, केवल प्रतिभावान नहीं, हमारी प्रतिदिन की एक जैसी तुच्छता के भीतर हठात् भयकर अपने ज्वालजटाकलाप को लेकर दिखाई देते हैं। उस समय कितने सुख-मिलन के जाल खड-खड, कितने हृदय के सम्बन्ध क्षार क्षार हो जाते हैं। हे रुद्र, तुम्हारे ललाट की जिस धधकती हुई अग्निशिखा के स्फुलिंग मात्र से अन्धकार मे घर के दीपक जल उठते हैं, उस शिखा से ही लोकालय मे सहस्रो के हाहाकार से निशीथ-रात्रि में गृहदाह उपस्थित होता है। हाय शम्भु, तुम्हारे नृत्य से, तुम्हारे दक्षिण और वाम पद-क्षेप से ससार म महापुण्य और महापाप उत्क्षिप्त हो उठता है। ससार के ऊपर प्रतिदिन के जडहस्तक्षेप से जो एक सामान्यता का सिवा हुआ आवरण पड जाता है, भले-बुरे दोनो

ने प्रबल आघात से तुम उसे छिन्न-विच्छिन्न करते रहो और प्राणों के प्रवाह को अप्रत्याशित की उत्तेजना से क्रमागत तरंगित करके शक्ति की नई नई लीला और सृष्टि की नई-नई मूर्ति प्रकट करते रहो। पागल तुम्हारे इस रुद्र आनन्द मे योग देते हुए मेरा भीत-हृदय कभी पराङ्‌मुख न हो। सहार के रक्तिम-आकाश के भीतर तुम्हारा रविकरोद्दीप्त तृतीय-नेत्र जैसे ध्रुवज्योति से मेरे अन्तर के अन्तर को उद्भासित करदे। नृत्य करो हे उन्माद, नृत्य करो। उस नृत्य के पूर्णवेग से आकाश की लक्ष-कोटि योजन व्यापी उज्ज्वलित नीहारिका जिस समय चक्कर काटने लगेगी, उस समय मेरे हृदय के भीतर भय के आक्षेपसे रुद्र-सगीत की ताल न कट पाये। हेमृत्युञ्जय, हमारे सब भले और सब बुरे के भीतर तुम्हारी ही जय हो।

हमारे इस विक्षिप्त देवता का आविर्भाव क्षण-क्षण पर होता हो, ऐसा नही है, सृष्टि के भीतर इनका पागलपन दिन-रात लगा हुआ है, हम लोग क्षण क्षण पर उसका परिचय मात्र पाते हैं। दिन-रात जीवन को मृत्यु नवीन कर रही है, अच्छे को बुरा उज्ज्वल कर रहा है, तुच्छ को अभावनीय मूल्यवान कर रहा है। जब परिचय मिलता है, तब रूप के भीतर अपरूप, बन्धन के भीतर मुक्ति का प्रकाश हमारे समीप जग उठता है।

आज के इस मेघोन्मुक्त आलोक के भीतर मेरे समीप उसी अप-रूप की मूर्ति जग उठी है। सामने की इस सडक, छप्पर पडी हुई मोदी की दूकान, इस टूटी हुई दीवार, इस पतली गली, इन पेड-पत्तों को प्रतिदिन के परिचय के भीतर अत्यन्त तुच्छरूप मे देखा है। इसीलिए उन सब ने मुझे बांध कर डाल दिया था, रोज इन्हीं कुछ वस्तुओं के भीतर नजरबन्दी बना कर रख छोडा था। आज देख रहा हूँ, चिर-अप-रिचित को अब तक परिचित मान कर देख रहा था, अच्छी तरह से देख ही नहीं रहा था। आज ये जो कुछ हैं, उसें पूर्णरूप मे देखकर समाप्त ही नहीं कर पा रहा हूँ। आज वह पूर्णरूप ही मेरे चारों ओर है, अथच, वे

सब मुझे अटका कर नहीं रखे हैं, उनमे से प्रत्येक ने मेरे लिए रास्ता छोड रखा है। मेरा पागल इसी जगह था, वह अपूर्व, अपरिचित, अपरूप, इस मोदी की दूकान के छप्परों की अवज्ञा नहीं करता-केवल, जिस उजाले मे उन्हें देखा जा सकता है, वह उजाला मेरी आंखों के ऊपर नहीं था। आज आश्चर्य यही है कि यह सामने का दृश्य, यह समीप की वस्तुएँ मेरे समीप एक बहु सुदूर की महिमा प्राप्त कर रही हैं, उनके साथ गौरीशङ्कर की तुषार वेष्टित दुर्गमता, महासमुद्र की तरग-चचल दुस्तरता, अपने जातित्व को प्रकट कर रही है।

इसी तरह हठात् एक दिन जाना जा सकता है, जिसके साथ अत्यन्त घर-गृहस्थी जुटा बैठा था, वह मेरी घर-गृहस्थी के बाहर की वस्तु है। मैं जिसे प्रतिक्षण का बँधा हुआ पारिश्रमिक कह कर नितान्त निश्चिन्त हो गया था, उस जैसी दुर्लभ दूरापत्त वस्तु कुछ भी नहीं है। मैं जिसे अच्छी तरह जानता हूँ, यह सोचकर, उसके चारो ओर सीमारेखा आँक कर खातिर जमा होकर बैठा था, उसे देखता हूँ कि न जाने कब एक क्षण के भीतर समस्त सीमा रेखा के पार होकर अपूर्व रहस्यमय हो उठी है। जो नियम की ओर से, स्थिति की ओर से, खूब छोटी-मोटी खूब दस्तूर-सगत, खूब अपनी के रूप अनुभव हुई थी, उसे नग्नता की ओर से, इस श्मशानचारी पागल की ओर से हठात् देख पाने पर मुँह से और वाक्य नहीं निकलता—आश्चर्य, वह कौन है। जिसे हमेशा से जानता आ रहा था, वह क्या यही है! जो एक ओर से घर की ही है, वह दूसरी ओर अन्तर की है, जो एक ओर से काम की है, वह दूसरी ओर से समस्त आवश्यकता के बाहर है; जिसे एक ओर से स्पर्श करते हैं, 'वह दूसरी ओर से समस्त आपत्त के अतीत है; जो एक ओर से सब के साथ खूब घुलमिल गई है, वह दूसरी ओर से भयकर विक्षिप्त है, अपने आप मे।

प्रतिदिन जिसे नहीं देखा था, आज उसे देख लिया, प्रतिदिन के हाथ से मुक्ति प्राप्त करके बच गया। मैं सोच रहा था, चारो ओर के

परिचितो ने घेडे के भीतर प्रत्याहिक नियम के द्वारा मैं बँधा हुआ हूँ, आज देख रहा हूँ, महा अपूर्व की गोद के भीतर चिरदिनो तक मैं खेल रहा था। मैंने सोचा था, आफिस के बडे साहब की तरह अत्यन्त एक व्यक्ति सुगम्भीर हिसाबी आदमी के हाथ मे पड कर ससार मे प्रतिदिन अक पडते जा रहे हैं, आज उस बडे साहब की अपेक्षा जो बडा है, उस मस्त बेहिसाबी पागल का विपुल उदार अट्टहास्य जल मे, स्थल मे, आकाश मे, सप्त-लोक भेद कर ध्वनित होते हुए सुन कर नि श्वास छोड कर बच गया हू। मेरे ख्याता पत्र सब पडे रह गये। अपने जरूरी कामों के बोझ को इस अभागे के पाँवो के समीप डाल दिया है—उनके ताण्डव नृत्य के आघात से वे चूर्ण विचूर्ण होकर, धूलि बनकर उड जाएँ।●